काव्य-मन्दाकिनी

सम्पादक

प्रो. सरनदास भनोत एम. ए.
एफ. सी. कालेज, लाहौर।

प्रकाशक
पञ्जाब यूनिवर्सिटी, लाहौर।

काव्य-मन्दाकिनी

(हिन्दी-रत्न परीक्षा के लिये)

प्रो. सरनदास भनोत एम. ए.
एफ. सी. कालेज, लाहौर

द्वारा

पंजाब यूनिवर्सिटी के लिये सम्पादित

प्रकाशक
पञ्जाब यूनिवर्सिटी, लाहौर।

प्रथम संस्करण] १९४० [मूल्य २-०-०

विषय-सूची

प्राचीनकाल

विषय			पृष्ठ
भूमिका	...		क—ड
१. कबीर			
साखी	...	...	५
शब्द			
विनय	...	...	१७
सद्गुरु-माहात्म्य	...	...	१७
संत-लक्षण	...	...	१८
जीवन की यथार्थता	...	...	१९

ज्ञान-महिमा १६
कर्म-गति १६
उद्बोधन २०
आत्मज्ञान २२

२. सूरदास
पद २९

३. मीराबाई
पद ४६

४. तुलसीदास
वन जाने के लिये सीता जी का अनुरोध ... ६१
भरत-कौशल्या-संवाद ६३
वसिष्ठ, माता कौशल्या तथा मन्त्रीवर्ग का भरत से राज्य ग्रहण करने के लिये अनुरोध और उनका इनकार ६८
अनसूया का उपदेश ७८
शरद्-ऋतु-वर्णन ८०
विभीषण-रावण-संवाद ८२
लक्ष्मण की मूर्छा पर राम का विषाद ... ८५
केवट की प्रार्थना ८७
शबरी से भेंट (अछूतोद्धार) ... ८७
हनुमान् की कार्यतत्परता ८९
सुमित्रा का त्याग ९०

विनय	...	...	९०
शरणागत की रक्षा की चिन्ता		...	९१
दोहे	...	...	९१

५. रहीम

कविता	...	...	६६

६. बिहारीलाल

कविता	...	...	१०९

७. वृन्द

कविता	...	...	११६

८. गिरधर कविराय

कविता	...	...	१२४

पूर्वमाध्यमिक काल

९. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

विनय	...	...	१३१
उद्बोधन	...	...	१३३
घर की फूट	...	...	१३३
मृतक का रूप	...	...	१३४
यमुना-वर्णन	...	....	१३६
पतिव्रता-धर्म	...	...	१३८

१०. श्रीधर पाठक

सुसंदेश	...	...	१४१

देश-गीत १४२
सान्ध्य अटन १४४
काश्मीर-वर्णन १४६
वन-शोभा १४६
जगत-सचाई-सार १५०

११. नाथूराम शंकर

निदाघ-निदर्शन १५४
प्रशस्त पाठ १५९

माध्यमिक काल

१२. अयोध्यासिंह उपाध्याय (हरिऔध)

विबोधन १६४
बाल-लीला १६५
सच्चे वीर १६८
पते की बातें १७०
शिक्षा का उपयोग १७१
शान्ति १७३

१३. मैथिलीशरण गुप्त

धर्म की दशा १७८
उत्तरा का अनुरोध १८०
आश्वासन १८०
गुरु नानक १८२
अछूतोद्धार १८५

नहीं पियूंगा	...	...	१८५
राहुल जननी	...	...	१८६
मां कह एक कहानी !	...	...	१८७
साकेत के कुछ पात्र	...		१८९—१६६
कौसल्या	...	...	१८९
राम	...	...	१९१
उर्मिला	...	...	१९३
भरत	...	...	१९५
केकयी	...	...	१९५
आभास	...	...	१९९
संलाप	...	...	२०२

१४. माखनलाल चतुर्वेदी

हृदय	...	...	२०७
पुष्प की अभिलाषा	...	...	२१०
पर्वत की अभिलाषा	...	...	२१०
त्याग का आदर्श	...	...	२११
जीवन झरना	...	...	२११
देश के बालक	...	...	२१३
भारत के भावी विद्वान्	...	...	२१३

१५. रामनरेश त्रिपाठी

अन्वेषण	...	...	२१८

कर्म-माहात्म्य	...	...	२२०
राम कहां मिलेंगे !	...	...	२२३
ज्ञान का दण्ड	...	...	२२४
अन्यायी देश	...	...	२२५
सज्जन	...	...	२२५
पांच सूचनायें	...	...	२२८

१६. वियोगी हरि

प्रकृत वीर	...	...	२३९
पराधीनता	...	...	२३९
स्वाधीनता	...	...	२४०
पराधीन और स्वाधीन	...	...	२४१
अछूत	...	...	२४१
बाल-विधवा	...	...	२४२
विविध	...		२४२—२४५

उत्तरमाध्यमिक काल

१७. जयशंकर प्रसाद

प्रार्थना	...	...	२४९
आदेश	...	...	२४९
आंसू	...	...	२५०
अशोक की चिन्ता	...	...	२५२
कर्म-लोक	...	...	२५६

१८. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला

तुम और मैं	...	...	२६२
मुक्ति	...	...	२६४
जलद के प्रति	...	...	२६५
भिक्षुक	...	...	२६६
वर दे, वीणावादिनि वर दे!		...	२६७
महत्त्वाकांक्षा	...	...	२६८

१९. सुमित्रानन्दन पन्त

कुसुम-जीवन	...	...	२७३
सुख-दुख	...	...	२७४
तप रे मधुर-मधुर मन!	...	...	२७५
जीवन का श्रम-ताप हरो	...	...	२७६
जीवन का अधिकारी	...	...	२७६
छाया	...	...	२७७
कवि	...	...	२७९
आचार्य द्विवेदी जी के प्रति		...	२८०
खोलो	...	...	२८१

नवीन काल

२०. सियारामशरण गुप्त

चोर	...	...	२८५
यात्री	...	...	२८६

दुर्वार २८७
खिलौना २८९
घट २९१
परीक्षा २९२
सुजीवन २९३
खादी की चादर २९३

२१. बालकृष्ण शर्मा नवीन

सिरजन की ललकारें मेरी! ... ३०५
विप्लव-गायन ३०८
शिखर पर ३१०

२२. उदयशंकर भट्ट

अपने से ३१४
महाप्रस्थान ३१५
विद्रोही ३१८
विजय-दशमी ३२०
मेरा बचपन ३२१
सुख की क्षणिकता ३२३
उपालंभ ३२३
पथिक से ३२४
गीत ३२५

२३. भगवतीचरण वर्मा

परिचय ३२८

मेरी आग ३३१

२४. रामकुमार वर्मा

अस्थिर जीवन ३३५

अशान्त ३३६

चंद्र-किरण ३३९

दीपक से ३४०

तारों के प्रति ३४०

२५. महादेवी वर्मा

संसार ३४३

अधिकार ३४७

दीपक में पतङ्ग जलता क्यों ? ... ३४८

जीवन दीप ३४९

मुरझाया फूल

२६. जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द

उगता राष्ट्र ३५३

गुरुता से लघुता की ओर ३५८

मरणोन्मुख ३६०

बिखरे भाव ३६१

२७. हरिकृष्ण प्रेमी

वेदना	... ...	३६६
जादूगरनी	... ...	३६७
उपेक्षित दीप	... ...	३६९
अनंत के पथ पर	... ...	३७०
गीत	... ...	३७२

२८. हरिवंशराय बच्चन

दिन जल्दी-जल्दी ढलता है !	...	३७६
आ, सोने से पहले गा लें !	...	३७७
अब मत मेरा निर्माण करो	... ...	३७७
कवि की निराशा	... ...	३७८
जीवन-तरुवर	... ...	३८१
आत्म-परिचय	... ...	३८२
शब्द-कोश	...	३८५—४३५

भूमिका।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हिन्दी काव्य-साहित्य में दो ही जीवित धाराएं दिखाई पड़ती हैं—एक तो भक्ति-प्रधान काव्य धारा और दूसरी नायक-नायिका-भेद से लदी शृङ्गार रस की धारा। वीर रस की काव्य-धारा पद्य के प्रारम्भ की भूमिका होते हुए भी अधिक काल तक विकसित न हो सकी और परिस्थिति के अनुसार उसका रूप बदल गया। हिन्दी के प्रारम्भ में वीर-गाथा-काल का इतिहास बिल्कुल स्वाभाविक है। प्रायः सभी जातियों, सभी देशों में वीरत्व से ही कविता का प्रारम्भ हुआ है। कविता का रूप भी एक तरह से जाति-गौरव से प्रारम्भ

होता है। कविता का प्रारम्भ दूसरे शब्दों में 'रस' से ही है। जिस देश में सर्वदा युद्ध के बादल घिरे रहते हों, जहां समाज और व्यक्ति को जीवित रहने के लिये संघर्ष की आवश्यकता हो, वहां कविता वीर रस से प्रारम्भ होगी। इसी तरह जहां देश सब तरह से स्वतन्त्र होगा, वहां उस का रूप प्राकृतिक सौन्दर्य, विलासिता से प्रारम्भ होगा। होमर के काव्य का प्रारम्भ वाल्मीकि से भिन्न होते हुए भी अवस्था में एक सा है। घटनाओं का सामंजस्य वहां एक-सा ही हुआ है। इसलिये कविता के इतिहास का मूल क्रम में भिन्न होते हुए भी रस ही माना जाना चाहिये। हिन्दी साहित्य के वीर काल ने उपयोगिता वाद की दृष्टि से हिन्दी तथा देश का जितना उपकार किया है उतना अन्य किसी प्रकार से भी संभव दिखाई नहीं देता। वीर-काल एक तरह से बची-खुची शक्ति को एकत्र कर के सामूहिक रूप से दलित आर्य जाति में गौरव भर कर उसे प्राचीनता की ओर ले जाने वाला है। वीर-गाथा-काल की कविता राजाओं की प्रशंसा में लिखी होने पर भी जनसाधारण के विचारों का प्रतिनिधित्व करती है। वह एक तरह से जनतंत्र के हृदय की कविता है। इसीलिये वह संस्कृत में न लिखी जाकर उस उस प्रान्त की भाषा का रूप वेष्टन करके चली है। उस में न तो शुद्ध छन्दोबन्धन है और न उसमें लक्षण-शास्त्र की प्रक्रियाओं का समावेश। वह कविता हृदय की, टूटे हुए विजड़ित, दलित आर्यत्व की कविता है। चंदवरदाई

और उसके बाद भाटों और चारणों ने जातीयता की जो कड़ी भारत के स्वातन्त्र्य को जीवित रखने के लिये जुड़ी रहने दी, उसमें कविता के रूप में राजनीति, धर्मनीति, समाज-नीति का प्राबल्य है, ऐसा मानना पड़ेगा। इसलिये उपयोगिता का रूप हमें वीर-गाथा-काल में अधिक स्पष्ट लक्षित होता है।

पद्य के विषय में भी दो एक बातें समझ लेनी चाहिये। संस्कृत में प्रायः वर्णवृत्तों में कविता करने का नियम है। बहुत कम मात्रिकवृत्तों में काव्य-प्रणयन हुआ है। सब से पहली बात जो हम हिन्दी कविता के प्रारम्भ में पाते हैं वह मात्रिकवृत्तों में काव्य-प्रणयन है। वर्णवृत्तों की अपेक्षा मात्रिकवृत्तों में सरलता, एवं आसानी होती है। इसीलिये मात्रा गणना वाले छन्द घनाक्षरी, कवित्त, सवैया ही सर्वसाधारण के लिये उपयुक्त छन्द बन गये। मैं पहले कह चुका हूँ कि वीर-गाथा-काल जनसाधारण का काल है। फिर उस अवस्था में सर्वसाधारण की कविता के लिये छंद-बन्धन, रचना-बन्धन का शिथिल होना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त अन्त्यानुप्रास भी कविता के जनसाधारण से प्रादुर्भूत होने का एक कारण है। विशेष पढ़े-लिखे लोग कविता में भाव, रस, चमत्कार देखते हैं; परन्तु जनसाधारण तो किसी भी प्रकार के शिथिल-अशिथिल छन्दो-बन्धन में बंधी कविता चाहता है जिसमें तुक हो और जो कविता के नाम पर लोगों को उभार सके, उनमें जीवित

रहने का रस फूँक सके । यह नियम कविता में निभाया जारहा है। और वीर-काल के बाद निर्गुण सम्प्रदाय के प्रवर्तक कबीर जैसों ने भी दोहों, पदों में इसी नियम का पालन किया है।

वीर-गाथा-काल में जो सबसे विचित्र बात दिखाई देती है वह है उस समय के इतिहास में स्वावलम्बन-भाव । राजपूतों ने, चाहे उनमें नीति का कितना अभाव रहा हो, धर्म के लिये, देश के लिये बलिदान किये, साधारण से साधारण किसानों ने भी जितना त्याग दिखाया, वह सब कुछ—भारतवर्ष के उस काल का प्रतिनिधित्व—वीर-गाथाओं में भरा पड़ा है। खेद है कि राजपूताने तथा देश के अन्य भागों की तत्कालीन कविता से इतिहास की अभी तक रचना नहीं हो सकी है। हमारा विश्वास है यदि उस समय की सभी प्रान्तीय भाषाओं की रचनाएँ संग्रह की जाएँ, तो बहुत कुछ तथ्य भाग उनमें से निकाला जा सकता है।

वीर-गाथा-काल के बाद हिन्दी के इतिहास में निर्गुण आराधना का जो रूप दिखाई देता है कुछ थोड़ा सा उसका दिग्दर्शन भी हो जाना चाहिये। यह बात बिल्कुल स्वाभाविक है कि जब मनुष्य संघर्ष से ऊब जाता है, निराश हो जाता है तब ईश्वर की शरण में पुकार लगाता है। वीर-गाथा-काल के संघर्ष और भारत के जातीय जीवन के नष्ट हो जाने के बाद केवल एक ही आधार अवशिष्ट रह गया था। वह था ईश्वर-भक्ति द्वारा अपने दुःखों की पुकार ईश्वर

ना। मुसलमान जाति अपने विजय के साथ धर्म-
लिये जिन साधुओं को लेकर आई उनमें कुछ
सूफ़ी सन्त भी थे। उन्होंने निर्गुण-शाखा के प्रचार का
आश्रय हिन्दी को बनाया। हिन्दी साहित्य में अमीर
खुसरो ने बहुत से दोहे, पहेलियां, कहमुकरनी, गीत,
दोअर्थी आदि लिखे। उन्होंने खालकवारी नाम से एक
क भी लिखी जिस में फारसी, अरबी शब्दों के पर्याय-
ा हिन्दी शब्द पद्य में डाले। वली नाम का एक लेखक भी
हुआ, उसने भी हिन्दी में मुस्लिम-संस्कृति का प्रचार किया।
फिर मलिक मुहम्मद जायसी ने ठेठ हिंदी में पद्मावत लिखा।
इसके कुछ समय बाद विष्णु-सम्प्रदाय, रामानुजसंप्रदाय
मध्वसंप्रदाय और वल्लभसंप्रदाय के आचार्यों ने भिन्न भिन्न देशों
में जन्म लेने पर भी अपने अपने उपास्य देवों की प्रशंसा में
रचनाएँ कीं। राम और कृष्ण अवतारी होने के कारण भारत
के हिन्दू जीवन में, शरीर में प्राण की तरह, घर कर गये।
अब व्यास की तरह एक ऐसे महापुरुष की आवश्यकता थी
जो कृष्ण-चरितामृत का पान उस समय के प्रत्येक भारतीय
हिन्दू को करा कर उन्हें दासता के बन्धन में भी जीवित रखने
का प्रयत्न कर सके; और जो कृष्ण के पराक्रम, प्रेम, प्रतिभा,
पौरुष का क्रमशः रस पिला कर उन्हें अर्धजाग्रत अवस्था से
सततचेतन, मूक से वक्ता, निर्बल से सबल बना सके।
अन्य नंददास आदि भक्त-कवियों के साथ सूरदास ने यह काम
किया। सूरदास कब, कहां पैदा हुए, इसका अभी तक

निणय नहीं हो पाया, परन्तु इतना निश्चित है कि उनकी प्राण-रूप कविता-रस का पान कर के आज भी हिन्दू जीवन संसार-मूर्धन्य हो सका है। आज भी कवि के प्राण साहित्य के सर्वोच्च शिखर पर खड़े होकर संसार को अपने सौन्दर्य की ओर आकृष्ट कर रहे हैं। साहित्य का वह विशाल भाग, जो सूरदास ने अपनी संगीतमय कविता द्वारा हिन्दी को दिया, महान् सुसंस्कृत, सुरुचिपूर्ण, कहे जाने के योग्य है। सूरदास ने न केवल कविता अपि तु संगीत, न केवल माधुर्य अपि तु पाण्डित्य के द्वारा हमें इस योग्य बना दिया कि हम उस एक मात्र विशाल आधार के सहारे खड़े होकर अपनी प्राचीन प्रतिभा, प्रवणता, औदार्य का रूप उस ब्रह्मास्वाद-सहोदर रस-मंडित काव्य में पा सके। जहां तक शुद्ध रस, विशुद्ध भाव, उचित गांभीर्य, मोहक शैली का सम्बन्ध है वहां तक हम कह सकते हैं कि सूरदास विश्व के महाकवियों में एक थे। परन्तु हिन्दी साहित्य को तो और भी उन्नत होना था। इसलिये उन के थोड़ी ही देर बाद निर्जीव समाज के प्राणों में शक्ति संचार करने वाले तुलसीदास का जन्म हुआ। तुलसीदास महाकवि के साथ साथ, सुधारक, भक्त-शिरोमणि, चतुर, नरश्रेष्ठ थे। उन्होंने मर्यादा-पुरुषोत्तम राम से नियंत्रण, अनुशासन तथा कर्त्तव्यपरायणता का उपदेश लेकर भारत को राम-चरित-मानस नाम का ग्रन्थ विभूति के तौर पर भेंट

किया, जिसमें स्वार्थहीनता, भक्ति, मर्यादा, सुरुचि, सद्भावना, सौन्दर्य सभी का समावेश था।

मेरा विश्वास है, यदि ये दो ही महाकवि हिन्दी को मिलते तो भी उसका साहित्य-कोश अक्षय ही माना जाता। हिन्दी साहित्य में इसके बाद फिर एक प्रतिक्रिया हुई और भक्ति का स्थान विलासिता ने ले लिया। इस समय तक विदेशी जातियों के पैर भारत में जम गये थे और उनमें सम्भावनानुसार विलासिता बढ़ने लगी थी। फलतः शृंगार—लौकिक शृंगार— चमका और कृष्ण जो सूरदास के यहाँ विश्वद्रष्टा के रूप में आये थे गोपियों के प्रेमी बन कर प्रकट हुए।

इस धारा ने हिन्दी को कविता की दृष्टि से दिया तो बहुत कुछ, परन्तु उसने यहाँ के कवियों, राजाओं और प्रजाजनों को स्त्रैण, एवं नारीमय बना दिया। उसने भारतीय चेतना को परोक्षवादी से प्रत्यक्षवादी और विलासप्रिय बना दिया। इसमें बिहारी, सेनापति, रसखान आदि हुए। भूषण आदि कवि इस युग की प्रतिक्रिया के रूप में आये।

अन्ततो गत्वा—एक नवीन युग की स्थापना हुई जिसमें हरिश्चन्द्र ने आकर देश-प्रेम, जातीय-प्रेम आर्य-गौरव की प्राण-प्रतिष्ठा की। और उस समय के बाद से लेकर आज तक हिन्दी साहित्य में वर्तन-प्रतिवर्तन होता रहा है।

इसके बाद तो छायावाद, रहस्यवाद, प्रेमवाद, हालावाद, प्यालावाद, समाजवाद, प्रगतिशीलतावाद आदि कई वादों की हिन्दी में बाढ़-सी आ गई।

हरिश्चन्द्र काल से लेकर अब तक हिन्दी साहित्य में बहुत से वादों का प्रारम्भ हो चुका है। ऐसा देख पड़ता है कि व्रजभाषा के कलेवर का त्याग करते ही कविता ने सब प्रान्तों, सब प्रकार के विचारों का प्रतिनिधित्व वहन किया है। युग-प्रवर्तक भारतेन्दु के काल से—जिसका हम पीछे उल्लेख कर चुके हैं—आर्य-गौरव, जाति-महिमा, समाज-सुधार का युग जागरूक हुआ। इसमें हरिश्चन्द्र के साथ प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, श्रीधर पाठक और नाथूराम शंकर शर्मा आदि कवि मुख्य थे। अन्तिम श्रीधर पाठक और नाथूराम शंकर शर्मा तो एक तरह से सच्चे अर्थों में कवि थे। इन्होंने भाषा के अनुसार विषयों में भी परिवर्तन किये।

इसके बाद जिन कवियों ने हिन्दी को नवयुग प्रदान किया उनमें अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त का स्थान प्रमुख है। उपाध्याय जी ने गद्य और पद्य के द्वारा हिन्दी की रूप-रेखा का निर्धारण किया। 'प्रियप्रवास' आप का एक महाकाव्य है जिसमें कृष्ण को नए ढंग से और नए रूप में पेश किया गया है। हिन्दी में इस समय तक भी जो सर्वप्रिय और लोकमान्य कवि माने जाते हैं उनमें बाबू मैथिलीशरण गुप्त का स्थान अद्वितीय है। गुप्तजी ने

आचार्य द्विवेदी जी की प्रेरणा एवं अपनी अक्षुण्ण प्रतिभा से कविता को बहुत से रत्न भेंट किये हैं।'यशोधरा', 'साकेत' आपके दो उज्ज्वल हीरक हैं जो न केवल कविता की दृष्टि से ही अपितु अमर साहित्य के विचार से भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। हिन्दी में सूरदास और तुलसीदास के बाद खड़ी बोली ने जिस एक महाकवि को जन्म दिया है वह कवि गुप्तजी हैं, ऐसा हमारा मत है।

सर्वश्री जयशंकर 'प्रसाद', सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला और सुमित्रानन्दन पन्त—ये तीनों भिन्न दिशा और रूप के कवि होते हुए भी रहस्यवाद और छायावाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। प्रसाद जी माधुर्य, गाम्भीर्य, सुरुचि और रहस्य के कवि थे। इन्होंने रवीन्द्रबाबू की तरह साहित्य के सभी क्षेत्रों का शृंगार किया है। आंसू और'कामायनी आपके दो अमूल्य ग्रन्थ हैं जो साहित्य की अक्षय निधि कहे जा सकते हैं। निराला जी गहन दार्शनिकता, मुक्त-बन्धन, असंकुचित दृष्टि के विवेचक कवि हैं जिन्होंने कविता के क्षेत्र को उज्ज्वल किया है। और पन्त जी तो प्रकृति के प्रतिमूर्त कवि हैं। मधुरता, कोमलता, सरलता का जितना सुन्दर समन्वय इनकी कविता में हुआ है उतना और किसी कवि की कविता में नहीं पाया जाता।

माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीयता के प्रतिनिधि कवि हैं। इनकी भाषा में जो बेजोड़ वाक्य-सौन्दर्य, अर्थगाम्भीर्य

होता है वह इनकी अपनी शैली है। चतुर्वेदी जी पत्रकार हैं किन्तु इतना होते हुए भी इनकी भाषा में भावप्रवणता की मात्रा अधिक रहती है। इसी शैली के अलमस्त कवि श्रीबालकृष्ण शर्मा भी हैं। इनमें उफान की तरह कविता का स्रोत बहता है। राष्ट्र-जागरण में जो और कवि इस नए मार्ग में नए वैशिष्ट्य के साथ आये हैं उनमें सियारामशरण साधुता, मर्यादा और आख्यान की दृष्टि से, रामनरेश त्रिपाठी भावावेशता और उपदेश की दृष्टि से, जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द उग्रता, वर्णन-वैचित्र्य, और स्फूर्ति की दृष्टि से मुख्य हैं।

उदयशंकर भट्ट रूढ़िवाद को ठोकर मार तथा बुद्धिवाद की पताका लेकर साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हुए हैं। भाग्यवाद में उनका विश्वास नहीं। मनुष्य स्वयं अपना विधाता है, जीवन में सुख और दुःख का अस्तित्व कर्म-परिणाम से नहीं वरन् मनुष्य के अपने कारण से है, ऐसी उनकी धारणा है। कर्मवाद का आश्रय लेना उनके मत में दलितों को ऊपर उठने से रोकना है, उनके पतन को न्याय्य सिद्ध करने का अध्यात्महीन प्रयत्न करना है। भट्ट जी की कविता में हमें उग्र मौलिकता, विद्रोह तथा नग्न यथार्थवाद के दर्शन होते हैं।

महादेवी वर्मा का स्थान इन सब से पृथक् है। श्रीमती वर्मा की कविता पीड़ा, सौन्दर्य तथा परोक्ष की सुन्दर उपासना है। इनमें रहस्य का जो रूप देख पड़ता है वह अपने में पूर्ण होते हुए भी सर्वथा अतृप्त और अशान्त है।

रामकुमार वर्मा और भगवतीचरण वर्मा दोनों अज्ञात प्रेम के गायक हैं। इनकी कल्पना अनुभूति के स्तर पर प्रकट होती है।

हरिकृष्ण प्रेमी वेदनावादी कवि हैं। पिछले दिनों से आप समाजवाद के ऊपर भी बहुत कुछ लिख रहे हैं।

हरिवंशराय बच्चन हिन्दी के कवियों में अपना सर्वथा पृथक् स्थान रखते हैं। आपने उमर खैय्याम की मधुशाला का यथार्थ प्रतिनिधित्व हिन्दी में किया है। अभी हाल में आपने जो कविताएँ लिखी हैं उनमें जीवन का रूप भिन्न दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त और भी कवि हैं जैसे मोहनलाल महतो, दिनकर, जनार्दनप्रसाद झा द्विज, अंचल, नीलकंठ तिवारी, अज्ञेय, सोहनलाल द्विवेदी आदि। इस कविगण ने हिन्दी-साहित्य को विविधता, सौन्दर्य, यथार्थता से विभूषित किया है।

संग्रह के सम्बन्ध में—

इस संग्रह में हम ने निम्न बातों की ओर ध्यान रखा है:—

(क) प्रतिनिधित्व का यथाशक्ति विचार करते हुए भी उपयोगितावाद को प्रधान स्थान दिया है।

(ख) ऐसी कविताएँ संग्रह में दी गई हैं जिनसे बालकों-बालिकाओं को अपने चरित्र-निर्माण में सहायता मिले, और रीति-काल तथा अन्य काल के शृङ्गार दोष से मुक्त हों।

(ग) योग्यता के अनुसार सरस और सरल हों।

हमने संग्रह में इस बात का भी ध्यान रखा है कि सांप्रदायिक मनोवृत्ति को दूषित करने वाली रचनाओं को, जहां तक हो सके, स्थान न दिया जाय। और हमें विश्वास है कि इस दृष्टि से हम अपने प्रयास में सर्वथा सफल हुए हैं। हमारा विश्वास है कि नवयुग निर्माण के लिये जहां तक सम्भव हो इस विषैले वातावरण से छात्रों और छात्राओं को बचाया जाय। हम मानते हैं प्राचीन अच्छा है, पर सभी प्राचीन अच्छा है, उपादेय है, ऐसा मानने में हमें आपत्ति है। नवीन भारत के लिये हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई आदि सभी संस्कृतियों के सुन्दर समन्वय द्वारा यदि हम ऐसे बालक तैयार कर सकें जो राष्ट्र के सच्चे प्रतिनिधि, देश के सच्चे पुत्र बन सकें तो हमारा साहित्य सच्चे अर्थों में देश की सेवा कर सकेगा, ऐसा हमारा विश्वास है। इसीलिये इच्छा रहते हुए भी हम ने कविवर भूषण को स्थान नहीं दिया।

इसके अतिरिक्त हमने संग्रह के लिये कवियों की प्रायः सभी रचनाएँ पढ़कर उनको उपादेयता की दृष्टि से चुना है, जिससे कवि की आत्मा और शैली का ठीक ठीक प्रतिनिधित्व होसके। इसलिये पाठक देखेंगे कि एक कवि की प्रायः सभी पुस्तकों के उद्धरण इस संग्रह में आगये हैं।

कवियों के क्रम में हमने जन्म-संवत् का ध्यान रखा है ताकि रचनाकाल के अनुसार कवि की मर्यादा बांधी जा सके।

विद्यार्थियों की सुविधा के लिये अन्त में एक शब्दकोश भी जोड़ दिया गया है। कबीर, सूर और तुलसी की कविता का शब्दार्थसंग्रह उनकी कविता के अपेक्षाकृत क्लिष्ट होने के कारण विस्तार से देने का यत्न किया गया है।

अन्त में, इस संग्रह में आये हुए उन सब आधुनिक कवियों का मैं आभार मानता हूँ जिन्होंने मुझे अपनी कविता चुन लेने की आज्ञा प्रदान की है।

मैं पंजाब विश्वविद्यालय के हिन्दी संस्कृत बोर्ड के प्रतिष्ठित सदस्यों के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शन करना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने इस संग्रह के लिये समय-समय पर मुझे अमूल्य सम्मति प्रदान करने की कृपा की है।

लाहौर,
१ जून, १६४०

विनीत—
—सरनदास भनोत

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	प०	अशुद्ध	शुद्ध
६	५	छार	छीर
६	१२	दाम	नाम
११	८	पता	पत्ता
११	८	लाग	लागै
१७	१३	महात्म्य	माहात्म्य
१८	१३	बट-पार	बट-मार
३५	१८	मिनि	मिलि
४९	३	करो	हरी
५२	१९	सग	संग
७७	२१	में	मैं
७६	८	कहहां	कहहीं
८१	७	कहु	कहुँ
९१	९	निहारै	निहोरै
१०४	२१	सपदा	संपदा
१६७	७	अंतिग	अंतिम
१७३	६	व	वे
२२०	४	पराचा	परीचा
२४०	२	पर्हिचान	पहिचान
२६२	११	में	मैं
२७८	३	सा	सी
३३१	१६	अन्धां	अन्धों
३५३	१०	उच्छृखल	उच्छृंखल

कबीर

हिन्दी साहित्य में कबीर का स्थान बहुत ऊँचा है, संत कवियों में वे सर्वप्रधान कवि माने जाते हैं। उनके जीवन की कथा हमें बहुत कम मालूम है। वे अपनी कविता की भाँति आप भी हमारे लिये एक रहस्य की वस्तु हो गए हैं; वास्तव में उनके माता पिता कौन थे, कहां जन्म हुआ, क्या जाति था—यह कुछ भी मालूम नहीं। प्रकृति के बन्धनों से रहित एक शुद्ध आत्मा के लिये किसी काल, देश और जाति का प्रयोग करते नहीं बनता, सम्भवतः हमें यही पाठ पढ़ाने के लिए ही वे अपने आपको छिपा कर रह गये हैं; इन सब से पृथक रह कर उन्होंने अपना जन्म स्वीकार किया है। ऐसा जान पड़ता है, वे अपने समय की परिस्थिति के अनुकूल देश, काल और जाति के धर्मों का कलह मिटाने और शुद्ध आत्मा का संदेश सुनाने के लिए ही यहाँ अवतीर्ण हुए थे।

/एक नवजात शिशु काशी के लहर तारा तालाब के किनारे चुपचाप पड़ा था। पास से नीमा और नीरू नाम के जुलाहे जाति के स्त्री-पुरुष गुज़रे। उन्हों ने देखा और दयाप्रवण होकर उसे गोदी में ले लिया/ वे घर ले आए और औरस पुत्र की भाँति उसे पाला पोसा और अपने जाति-धर्म के अनुसार उस का नाम कबीर रख दिया/। नाम की सूझ उन की बहुत ऊँची थी। वह शिशु सचमुच का कबीर* साबित हुआ/

उन दिनों हिन्दू और मुसलमान दोनों अपना स्थायित्व बनाने की चेष्टा कर रहे थे। दोनों परमार्थ से भ्रष्ट हो अपने बाह्य आडम्बरों में भूले थे। इन दोनों के बीच में सौहार्द और प्रेम उत्पन्न करने के लिए एक महान आत्मा की आवश्यकता थी। कबीर ने इस अभाव को पूरा किया। वे इधर जातिपांति का बन्धन काटने वाले आचार्य श्री रामानन्द के चरणों में बैठे, उधर विश्वजगत को अपनी आत्मा बतलाने वाले सूफी शेख़ तक़ी के कदमों में सिजदा किया। दोनों का संसर्ग स्वर्ण योग था, उसे प्राप्त कर वे बहुत ऊंचे उठे।/

अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए कबीर ने जिन सुन्दर भावों और जिस विचित्र शैली का आश्रय लिया है, वह देखते ही बनता है। कविता का जो बाह्य साहित्यिक ठाठ स्वीकार किया गया है, उस दृष्टि से उन की कविता उतनी ऊँचे दर्जे की नहीं है—किन्तु सचमुच कविता में जो कुछ होना चाहिए, जिससे कविता का आत्मा पुष्ट होता है, उससे वह सर्वथा पूर्ण है। आजकल कविता में रहस्यवाद कोटि की जो धारा चल रही है, जिससे हिन्दी साहित्य की प्राणप्रतिष्ठा हुई है, उसके बीज सबसे पहले इन महात्मा

*'कबीर' फारसी भाषा का शब्द है, इसका अर्थ है—बड़ा, बुज़ुर्ग—महान।

ने ही बोए थे। ये ही इस धारा के जन्मदाता हैं। पन्त, प्रसाद और निराला आदि इस युग के प्रतिनिधि कवियों ने आज इन बीजों के मूल्य को समझा है और हिन्दी क्षेत्र में उन की खेती के द्वारा अक्षुण्ण कीर्ति लाभ की है।

रहस्यवादी कवि हमारे सामने कुछ ऐसे विचार रखता है जो तोता-रटन्त के लिए नहीं होते, बल्कि उन से हमारी विचारशक्ति को गति मिलती है, हमारा चिन्तन-क्षेत्र विस्तृत होता है, हमारी प्रतिभा खिलती है, और यही मानव जीवन की विशेषता है। रवीन्द्रबाबू आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ रहस्यवादी कवि हैं, उन्हों ने कबीर की कविता का खूब आदर किया है, वे अपनी कविता-आरसी में कबीर को पद पद पर प्रतिच्छायित देखते हैं।

कबीर ने मसी, कागद और कलम को अपने हाथ से कभी नहीं छुआ। उनकी जितनी वाणी मिलती है, वह सब उनके शिष्य परम्परा द्वारा लिखी हुई है। सब से पुराने ग्रन्थ, जिन में उन के उपदेश मिलते हैं, बीजक और आदिग्रन्थ हैं। कबीरपंथ में इन दोनों का बहुत मान है। सुखनिधान, गोरखनाथ की गोष्ठी, रामानन्द की गोष्ठी, होली, रेखता, बारहमासा, रमैनी, साखी, चांचर आदि और भी कई ग्रन्थ उन के नाम से प्रसिद्ध हैं।

संवत् १४५६*१ में कबीर जी का जन्म बतलाया जाता है और सं० १५७५*२ में मृत्यु। मृत्यु के समय हिन्दू मुसल्मान दोनों में विवाद उपस्थित हुआ।

---

*१—'चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्र वार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसाइत को पूरनमासी प्रगट भये॥'

२—'संवत पन्द्रह सौ पछ्त्तरा, कियो मगहर को गवन।
माघ सुदी एकादसी रलौ पवन में पवन॥'

हिन्दू लोग उन के शव को आग की भेंट करना चाहते थे और मुसल्मान मट्टी की। अन्त में जब शव के ऊपर से चादर उठाकर देखा गया तो वहां मुट्ठी भर फूलों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। आधे फूल मुसल्मानों ने ले लिए और आधे हिन्दुओं ने। हिन्दुओं ने उन्हें जला कर उन की राख पर समाधि बना दी। यही स्थान काशी में कबीर चौरा के नाम से प्रसिद्ध है। मुसल्मानों ने आधे पर मघहर में कबर बना दी। कबीरपंथी लोग इन दोनों स्थानों की समान रूप से पूजा करते हैं।

साखी

तेरा साँई तुज्झ में ज्यों पुहुपन में बास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों फिर फिर ढूँढै घास॥
जा कारण जग ढूँढिया सो तो घट ही माहिं।
परदा दीया भरम का ता तें सूझै नाहिं॥
ज्यों तिल माहीं तेल है ज्यों चकमक में आगि।
तेरा साँई तुज्झ में जागि सकै ते जागि॥

आदि नाम पारस अहै मन है मैला लोह।
परसत ही कंचन भया छूटा बंधन मोह॥
सभी रसायन हम करी नहीं नामसम कोय।
रंचक घट में संचरै सब तन कंचन होय॥
जबहिं नाम हिरदे धरा भया पाप का नास।
मानो चिनगी आग की परी पुरानी घास॥
नाम बिना बेकाम है छप्पन कोटि बिलास।
का इन्द्रासन बैठिबो का बैकुंठ निवास॥

लूट सकै तो लूटि ले सत्त नाम की लूटि।
पाछे फिर पछिताहुगे प्रान जाहिं जब छूटि॥

साधू ऐसा चाहिए जैसा सूप सुभाय।
सार सार को गहि रहै थोथा देइ उडाय॥
छार रूप सत नाम है नीर रूप व्यवहार।
हंस रूप कोइ साध है ततका छाननहार॥
जब लग नाता जगत का तब लग भक्ति न होय।
नाता तोड़ै हरि भजै भक्त कहावै सोय॥
कामी क्रोधी लालची इनतें भक्ति न होय।
भक्ति करै कोइ सूरमा जाति बरन कुल खोय॥
जल ज्यों प्यारा माछरी लोभी प्यारा दाम।
माता प्यारा बालका भक्त पियारा राम॥
जब लगि भक्ति सकाम है, तब लगि निस्फल सेव।
कह कबीर वह क्यों मिलै, निःकामी निज देव॥
भक्ति गेंद चौगान की भावै कोइ लै जाय।
कह कबीर कछु भेद नहिं कहा रंक कह राय॥
लगी लगन छूटै नहीं जीभ चोंच जरि जाय।
मीठा कहा अँगार में जाहि चकोर चबाय॥

प्रेम न बाड़ी ऊपजै प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहिं रुचै सीस देइ लै जाय॥
प्रेम पियाला जो पियै सीस दच्छिना देय।

लोभी सीस न दे सकै नाम प्रेम का लेय ॥
छिनहिं चढ़ै छिन उतरै सो तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिंजर बसै प्रेम कहावै सोय ॥
जब मैं था तब गुरु नहीं अब गुरु हैं हम नाहिं।
प्रेम गली अति सांकरी तामें दो न समाहिं ॥
जा घट प्रेम न संचरै सो घट जान मसान।
जैसे खाल लोहार की सांस लेत बिनु प्रान ॥
पीया चाहै प्रेम रस राखा चाहै मान।
एक म्यान में दो खड़ग देखा सुना न कान ॥
कबिरा प्याला प्रेम का अंतर लिया लगाय।
रोम रोम में रमि रहा और अमल क्या खाय ॥
हरि से तू जनि हेत कर कर हरिजन से हेत।
माल मुलुक हरि देत हैं हरिजन हरिहिं देत ॥

दुख में सुमिरन सब करै सुख में करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करै तो दुख काहे को होय ॥
सुख में सुमिरन ना किया दुख में कीया याद।
कह कबीर ता दास की कौन सुनै फिरियाद ॥
सुमिरन सों मन लाइए जैसे नाद कुरंग।
कहै कबीर बिसरै नहीं प्रान तजै तेहि संग ॥
माला फेरत जुग भया फिरा न मन का फेर।
कर का मनका डारि दे मन का मनका फेर ॥
कबिरा माला मनहिं की और संसारी भेख।

माला फेरे हरि मिलें गले रहँट के देख॥
माला तो कर में फिरै जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुवां तो दहुँ दिसि फिरै यह तो सुमिरन नाहिं॥

साधू गांठि न बांधई उदर समाता लेय।
आगे पाछे हरि खड़े जब मांगे तब देय॥
सांई इतना दीजिए जा में कुटुंब समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ साधु न भूखा जाय॥

क्या मुख लै बिनती करौं लाज आवत है मोहिं।
तुम देखत औगुन करौं कैसे भावों तोहिं॥
मैं अपराधी जन्म का नख·सिख भरा विकार।
तुम दाता दुखभंजना मेरी करो सम्हार॥
अवगुन मेरे बाप जी बकस गरीब·निवाज।
जो मैं पूत कपूत हौं तऊ पिता को लाज॥
औगुन किए तो बहु किए करत न मानी हार।
भांवैं बंदा बकसिए भावैं गरदन मार॥
अंतरजामी एक तुम, आतम के आधार।
जो तुम छोड़ौ हाथ तो, कौन उतारै पार?
मेरा मुझ में कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझ को सौंपते क्या लागत है मोर॥
तुम तो समरथ सांइयां दृढ करि पकरो बांहि।
धुरही लै पहुँचाइयो जनि छांड़ो मग माहिं॥

पतिब्रता पति को भजे और न आन सुहाय।
सिंह बचा जो लँघना तो भी घास न खाय॥

गुरु गोबिंद दोऊ खड़े काके लागौं पांय।
बलिहारी गुरु आपने गोबिंद दियो बताय॥
बलिहारी गुरु आपने घड़ि घड़ि सौ सौ बार।
मानुष से देवत किया करत न लागी बार॥
सब धरती कागद करूँ लेखनि सब बनराय।
सात समुंद को मसि करूँ गुरु गुन लिखा न जाय॥
कबिरा ते नर अंध हैं गुरु को कहते और।
हरि रूठै गुरु ठौर हैं गुरु रूठे नहि ठौर॥
कबिरा हरि के रूठते गुरु के सरनै जाय
कह कबीर गुरु रुठते हरि नहिं होत सहाय॥
बस्तु कहीं ढूंढै कहीं केहि बिधि आवै हाथ।
कह कबीर तब पाइये भेदी लीजे साथ॥

सब बन तो चंदन नहीं सूरा का दल नाहिं।
सब समुद्र मोती नहीं यों साधू जग माहिं॥
साध कहावन कठिन है लंबा पेड़ खजूर।
चढ़े तो चाखे प्रेम रस गिरै तो चकना चूर॥
गांठी दाम न बांधई नहिं नारी सों नेह।
कह कबीर ता साधकी हम चरनन की खेह॥
बृच्छ कबहुं नहिं फल भखैं नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारने साधुन धरा सरीर॥

नहिं शीतल है चँद्रमा हिम नहिं शीतल होय।
कबिरा शीतल संत जन नाम सनेही सोय॥
जाति न पूछो साध की पूछि लीजिए ज्ञान।
मोल करो तरवार का पड़ा रहन दो म्यान॥
साधू भूखा भाव का धन का भूखा नाहिं।
धन का भूखा जो फिरै सो तो साधू नाहिं॥
सोना सज्जन साधु जन टूटि जुरै सौ बार।
दुर्जन कुम्भ कुम्हार के एकै धका दरार॥
साधू भया तो क्या हुआ माला पहिरी चार।
बाहर भेस बनाइया भीतर भरी भँगार॥
केसन कहा बिगारिया जो मूँड़ौ सौ बार।
मन को क्यों नहिं मूँडिये जा में विषै विकार॥
कबिरा संगत साध की हरै और की व्याधि।
सँगत बुरी असाध की आठो पहर उपाधि॥
कबिरा संगत साध की ज्यों गंधी का बास।
जो कछु गंधी दे नहीं तौ भी बास सुबास॥
मथुरा भावै द्वारिका भावै जा जगनाथ।
साध संगति हरि भजन बिनु कछु न आवै हाथ॥

कबिरा गर्व न कीजिए काल गहे कर केस।
न जानों कित मारि है क्या घर क्या परदेस॥
पानी केरा बुदबुदा अस मानुस की जात।
देखत ही छिप जायगा ज्यों तारा परभात॥

रात गँवाई सोय कर दिवस गँवाया खाय।
हीरा जनम अमोल था कौड़ी बदले जाय॥
काल्ह करै सो आज कर आज करै सो अब्ब :
पल में परलै होयगी बहुरि करेगा कब्ब ?
माटी कहै कुम्हार को तूं क्या रूँदे मोहिं।
इक दिन ऐसा होयगा मैं रूँदूँगी तोहिं॥
दुर्लभ मानुष जनम है देह न बारंबार।
तरवर ज्यों पता झड़े बहुरि न लागे डार॥
आए हैं सो जायँगे राजा रंक फकीर।
एक सिंघासन चढ़ि चले इक बँधि जात ज़ँजीर॥
इक दिन ऐसा होयगा कोउ काहू को नाहिं।
घर की नारी को कहै तन की नारी नाहिं॥
दस द्वारे का पींजरा तामें पंछी पौन।
रहिबे को आचरज है जाय तो अचरज कौन॥
जो तो को कांटा बुवै ताहि बोव तू फूल।
तोहि फूल को फूल हैं वाको हैं तिरसूल॥
दुर्बल को न सताइए जाकी मोटी हाय।
बिना जीव की स्वांस से लोह भसम ह्वै जाय॥
ऐसी बानी बोलिए मन का आपा खोय।
औरन को सीतल करै आपहुँ सीतल होय॥
आवत गारी एक है उलटत होय अनेक।
कह कबीर नहिं उलटिए वही एक की एक॥
गारी ही सों ऊपजै कलह कष्ट औ मीच।

हारि चलै सो साधु है लागि मरै सो नीच ॥
जैसा अनजल खाइए तैसा ही मन होय।
जैसा पानी पीजिए तैसी बानी सोय ॥
मांगन मरन समान है मति कोइ मांगो भीख।
मांगन ते मरना भला यह सत-गुरु की सीख ॥
उदर समाता अन्न लै तनहि समाता चीर।
अधिकहि संग्रह न करै ताका नाम फकीर ॥
मधुर वचन है औषधी कटुक बचन है तीर।
स्रवन द्वार है संचरै सालै सकल सरीर ॥

बोलत ही पहिचानिए साहु चोर को घाट।
अंतर की करनी सबै निकसै मुख की बाट ॥
करना था तो क्यों रहा अब करि क्यों पछिताय।
बोवै पेड़ बबूल का आम कहाँ तें खाय ॥
न्हाय धोय क्या भया जो मन मैल न जाय।
मीन सदा जल में रहै धोय बास न जाय ॥
पंडित और मसालची दोनों सूझै नाहिं।
औरन को कर चांदना आप अंधेरे माहिं ॥

कुटिल बचन सबसे बुरा जारि करै तन छार।
साध बचन जलरूप है बरसै अमृत धार ॥

आसा एक जो नाम की दूजी आस निरास।
पानी माहीं घर करै सो भी मरै पियास ॥

कबिरा सोया क्या करै उठि न भजै भगवान।
जम जब धर लै जायँगे पड़ा रहेगा म्यान॥
नींद निसानी मीच की उट्ठ कबीरा जाग।
और रसायन छांडि कै नाम रसायन लाग॥

तिनका कबहुं न निंदिए जो पांवन तर होय।
कबहूं उडि आंखिन परै पीर घनेरी होय॥
दोष पराया देखि करि चलै हसंत हसंत।
अपने याद न आवई जाको आदि न अंत॥

सील छिमा जब ऊपजै अलख दृष्टि तब होय।
बिना सील पहुंचै नहीं लाख कथै जो कोय॥
सीलवंत सबतें बड़ा सब रतनन की खानि।
तीन लोक की संपदा रही सील में आनि॥
ज्ञानी ध्यानी संजमी दाता सूर अनेक।
जपिया तपिया बहुत हैं सीलवंत कोइ एक॥
सुखका सागर सील है कोइ न पावै थाह।
सब्द बिना साधू नहीं द्रव्य बिना नहीं साह॥

छिमा बड़न को चाहिए छोटन को उत्पात।
कहा विष्णु को घटि गयो जो भृगु मारी लात॥
जहां दया तहँ धर्म है जहां लोभ तहँ पाप।
जहां क्रोध तहँ काल है जहां छिमा तहँ आप॥

करगस सम दुर्जन वचन रहै संत जन टारि।
बिजुली परै समुद्र में कहा सकैगी जारि॥
खोद खाद धरती सहै कांट कूट बनराय।
कुटिल बचन साधू सहै और से सहा न जाय॥

जों जल बाढ़ै नाव में घर में बाढ़े दाम।
दोऊ हाथ उलीचिए यही सज्जन को काम॥
हाड बड़ा हरि भजन कर द्रव्य बड़ा कछु देय।
अकल बड़ी उपकार कर जीवन का फल येह॥
देह धरे का गुन यही देहु देहु कछु देहु।
बहुरि न देही पाइए अब की देहु सो देहु॥

सत्त ही में सत बाँटई रोटी में तें टूक।
कह कबीर ता दासको कबहुँ न आवै चूक॥

चाह गई चिंता मिटी मनुवाँ बेपरवाह।
जिन को कछू न चाहिए सोई साहंसाह॥
माँगन गए सो मरि रहे मरे सो माँगन जाहिं।
तिन से पहले वे मरे होत करत जो नाहिं॥
गोधन गजधन बाजधन और रतनधन खान।
जब आवै संतोष धन सब धन धूरि समान॥
मरि जाऊं माँगूँ नहीं अपने तनके काज।
परमारथ के कारने मोहिं न आवै लाज॥

धीरे धीरे रे मना धीरे सब कुछ होय।
माली सींचै सौ घड़ा ऋतु आए फल होय॥
कबिरा धीरज के धरे हाथी मन भर खाय।
टूक एक के कारने स्वान घरै घर जाय॥

जिन ढूंढा तिन पाइया गहरे पानी पैठि।
मैं बपुरा बूड़न डरा रहा किनारे बैठि॥
मारग चलते जो गिरै वाको नाहीं दोस।
कह कबीर बैठा रहै ता सिर करडे कोस॥

दीन लखे मुख सबन को दीनहिं लखै न कोय।
भली बिचारी दीनता नरहुं देवता होय॥

ऊँचे पानी ना टिकै नीचे ही ठहराय।
नीचा होय सो भरि पिवै ऊँचा प्यासा जाय॥
सब तें लघुताई भली लघुता ते सब होय।
जस दुतिया को चंद्रमा सीस नवे सब कोय॥

दया भाव हिरदे नहीं ज्ञान कथै बेहद।
ते नर नरकहिं जाहिंगे सुनि सुनि साखी सब्द॥
दया कौन पर कीजिए का पर निर्दय होय।
सांई के सब जीव हैं कीरी कुंजर दोय॥

सांच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे सांच है ता हिरदे गुरु आप॥
सांई से साचा रहै सांई सांच सुहाय।
भांवै लंबे केस रख भांवै घोट मुँडाय॥
सांचे स्राप न लागई सांचे काल न खाय।
सांचे को सांचा मिले सांचे माहिं समाय॥
सांचे कोइ न पतीजई झूठे जग पतियाय।
गली गली गोरस फिरे मदिरा बैठि बिकाय॥

मन के मते न चालिए मन के मते अनेक।
जो मन पर असवार है सो साधू कोइ एक॥

ऐसी गति संसार की ज्यों गाडर की ठाट।
एक पड़ा जेहि गाड़ में सबै जांय तेहि बाट॥

कबिरा सोई पीर है जो जानै पर पीर।
जो पर पीर न जानई सो काफिर बेपीर॥

कबिरा मैं तो तब डरों जो मुझ ही में होय।
मीच बुढ़ापा आपदा सब काहू में सोय॥

सुख के माथे सिलि परै नाम हिरदे से जाय।
बलिहारी वा दुःख की पल पल नाम रटाय॥

करु बहियां बल आपनी छांड बिरानो आस।
जाके आंगन नदी है सो कस मरै पिआस ?

एकै साधे सब सधै सब साधे सब जाय।
जो तू सेवै मूल को फूलै फलै अघाय॥

प्रेम प्रीत से जो मिलै तासों मिलिए धाय।
अंतर राखै जो मिलै तासों मिलै बलाय॥

मो में इतनी सकत कहँ गाओं गला पसार।
बंदे को इतनी घनी पड़ा रहै दरबार॥

शब्द

विनय

बीत गये दिन भजन बिना रे।
बाल अवस्था खेल गँवायो, जब जवानि तब मान किया रे॥
लाहे कारन मूल गँवायो, अजहुं न मिटी तेरे मन की तृषा रे।
कहत कबीर सुनो भाइ साधो, पार उतरि गये सन्त जना रे॥

सद्गुरु-महात्म्य

साधो सो सतगुरु मोहिं भावै।
सत्त नाम का भर भर प्याला आप पिवै मोहिं प्यावै॥
मेले जाय न महँत कहावै पूजा भेंट न लावै।
परदा दूर करै आँखिन का निज दरसन दिखलावै॥
जाके दरसन साहब दरसैं अनहद शब्द सुनावै।
माया के सुख दुख कर जानै संग न सुपन चलावै॥
निसि दिन सत-संगति में राचै शब्द में सुरत समावै।
कह कबीर ताको भय नाहीं, निरभय पद परसावै॥

संत-लक्षण

हरिजन हंस दशा लिए डोलैं। निर्मल नाम चुनी चुनि बोलैं ॥
मुक्ताहल लिए चोंच लुभावैं। मौन रहैं कै हरि-गुन गावैं ॥
मान सरोवर तट के बासी। राम-चरण चित अंत उदासी ॥
काग कुबुद्धि निकट नहिं आवै। प्रति दिन हंसा दरसन पावै ॥
नीर छीर को करै निबेरा। कहै कबीर सोई जन मेरा ॥

सील सँतोष ते सब्द जा मुख बसे, संतजन जौहरी सांच मानी।
बदन बिकसित रहै ख्याल आनंद में, अधर में मधुर मुसकात बानी।
सांच डोलै नहीं झूठ बोलै नहीं, सुरत में सुमति सोइ श्रेष्ठ ज्ञानी।
कहत हौं ज्ञान पुकारि सबन सों, देत उपदेस दिल दर्द जानी।
ज्ञान को पूर है रहनि को सूर है, दया की भक्ति दिल माहिं ठानी।
ओर ते छोर लौं एक रस रहत है, ऐस जन जगत में बिरले प्रानी।
ठग्ग बट-पार संसार में भरि रहे, हंस की चाल कहँ काग जानी।
चपलता चतुर हैं बने बहु चीकने, बात में ठीक पै कपट ठानी।
कहा तिनसों कहों दया जिनके नहीं, घात बहुतै करैं बकुल ध्यानी।
दुर्मती जीव की दुविध छूटै नहीं, जन्मजन्मांत्र पड़ नर्क खानी।
काग कुबुद्धि सुबुद्धि पावैं कहाँ, कठिन कट्ठोर बिकराल बानी।
अगिन के पुंज हैं सितलता तन नहीं, अमृत औ बिष दोउ एक सानी।
कहा साखी कहे सुमति जागी नहीं, सांच की चाल बिन धूर धानी।
सुकृति ओर सत्त की चाल सांची सही, काग बक अधम की कौन खानी।
कहै कबीर कोउ सुघर जन जौहरी, सदा सब धान पय नीर छानी ॥

जीवन की यथार्थता

साधो यह तन ठाठ तँबूरे का।
ऐंचत तार मरोरत खूँटी निकसत राग हजूरे का।
टूटे तार बिखरि गई खूँटी हो गया धूरमधूरे का॥
या देही का गरब न कीजै उड़ि गया हंस तँबूरे का।
कहत कबीर सुनो भाइ साधो अगम पंथ कोई सूरे का॥

ज्ञान-महिमा

पंडित सोधि कहहु समुझाई, जाते आवागमन नसाई।
अर्थ धर्म औ काम मोक्ष फल कौन दिशा बस भाई॥
उत्तर दक्खिन पूरब पच्छिम, सरग पतालहिं माहे।
बिन गोपाल ठौर नहिं कतहूँ, नरक जात धौं काहे॥
अनजाने को नरक सरग है, हरि जाने को नाहीं।
जेहि डर को सब लोग डरत हैं, सो डर हमरे नाहीं॥
पाप पुण्य की संका नाहीं, नरक सरग नहिं जाहीं।
कहै कबीर सुनो हो संतो, जहँ पद तहाँ समाहीं॥

कर्म-गति

करम गति टारे नाहिं टरी।
मुनि बसिष्ठ से पंडित ज्ञानी सोध के लगन धरी।
सीता हरन मरन दसरथ को बन में बिपति परी॥
कहँ वह फंद कहाँ वह पारधि कहँ वह मिरगचरी।
सीया को हरि लैगो रावन सुबरन लंक जरी॥

नीच हाथ हरिचंद बिकाने बलि पाताल धरी।
कोटि गाय नित पुन्न करत नृप गिरिगिट जोन परी॥
पांडव जिनके आपु सारथी तिन पर बिपति परी।
दुरजोधन को गरब घटायो जदुकुल नास करी॥
राहु केतु औ भानु चंद्रमा बिधी सँजोग परी।
कहत 'कबीर' सुनो भाइ साधो होनी हो के रही॥

उद्बोधन

(१)

ना जानें तेरा साहेब कैसा है।

महजिद भीतर मुला पुकारै क्या साहेब तेरा बहिरा है।
चिउँटी के पग नेवर बाजे सो भी साहब सुनता है॥
पंडित होय के आसन मारै लंबी माला जपता है।
अंतर तेरे कपट कतरनी सो भी साहब लखता है॥
ऊँचा नीचा महल बनाया गहरी नेव जमाता है।
चलने का मनसूबा नाहीं रहने को मन करता है॥
कौड़ी कौड़ी माया जोड़ी गाड़ि जमीं में धरता है।
जेहि लहना है सो लै जैहै पापी बहि बहि मरता है॥
सतवंती को गजी मिलै नहिं बेश्या पहिरे खासा है।
जेहि घर साधू भीख न पावै भँडुआ खात बतासा है॥
हीरा पाय परख नहिं जानै कौड़ी परखन करता है।
कहत कबीर सुनो भाइ साधो हरि जैसे को तैसा है॥

(२)

संतो राह दोऊ हम डीठा।
हिंदू तुरक हटा नहिं माने स्वाद सबन को मीठा॥
हिंदू बरत एकादसि साधै दूध सिंघाड़ा सेती।
अन को त्यागै मन नहिं हटकै पारन करै सगोती॥
रोजा तुरुक नमाज गुजारै बिसमिल बाँग पुकारै।
उनको भिस्त कहाँ ते होइहै साँझे मुरगी मारै॥
हिंदू दया मेहर को तुरुकन दोनों घट सों त्यागी।
वै हलाल वै झटका मारैं आगि दुनों घर लागी॥
हिंदू तुरुक की एक राह है सतगुरु इहै बताई।
कहहि कबीर सुनो हो संतो राम न कहेउ खोदाई॥

(३)

जाके नाम न आवत हिए।
काह भए नर कासि बसे से का गंगा-जल पिए।
काह भए नर जटा बढ़ाए का गुदरी के लिए॥
काह भयो कंठी के बाँधे काह तिलक के दिए।
कहत कबीर सुनो भाइ साधो नाहक ऐसे जिए॥

(४)

नाम सुमिर, पछतायगा।
पापी जियरा लोभ करत है आज काल उठि जायगा॥
लालच लागी जनम गँवाया माया भरम भुलायगा।
धन जोबन का गरब न कीजै कागद ज्यों गलि जायगा॥

जब जम आइ केस गहि पटकै ता दिन कछु न बसायगा।
सुमिरन भजन दया नहिं कीन्ही तो मुख चोटा खायगा॥
धरमराय जब लेखा मांगे क्या मुख लेके जायगा।
कहत कबीर सुनो भाइ साधो साध संग तरि जायगा॥

(५)

भजु मन जीवन नाम सबेरा।

सुंदर देह देख जिन भूलो झपट लेत जस बाज बटेरा।
यह देही को गरब न कीजै उड़ पंछी जस लेत बसेरा॥
या नगरी में रहन न पैहो कोइ रहि जाग न दूख घनेरा।
कहैं कबीर सुनो भाइ साधो मानुख जनम न पैहो फेरा॥

आत्म-ज्ञान

(१)

पानी बिच मीन पियासी, मोहिं सुन सुन आवत हाँसी।
आतम ज्ञान बिना सब सूना, क्या मथुरा क्या कासी॥
घर में वस्तु धरी नहिं सूझै, बाहर खोजत जासी॥
मृग की नाभि माहिं कस्तूरी, बन बन खोजत जासी।
कहैं कबीर सुनो भाइ साधो सहज मिलै अबिनासी॥

(२)

चंदा झलकै एहि घट माँहीं। अंधी आँखिन सूझै नाहीं॥
एहि घट चंदा एहि घट सूर। एहि घट गाजै अनहद तूर॥
एहि घट बाजै तबल निसान। बहिरा शब्द सुनै नहिं कान॥

जब लग मेरी मेरी करै। तब लग काज न एको सरै॥
जब मेरी ममता मरि जाय। तब प्रभु काज सँवारे आय॥
जब लग सिंह रहै बन माहिं। तब लग वह बन फूलै नाहिं॥
उलटा स्यार सिंह को खाय। उकठा बन फूलै हरिआय॥
ज्ञान के कारन करम कमाय। होय ज्ञान तब करम नसाय॥
फल कारन फूलै बनराय। फल लागे पर फूल सुखाय॥
मिरग पास कस्तूरी बास। आप न खोजै खोजै घास॥
पारै पिंड मीन लै खाई। कहैं कबीर लोग बौराई॥

(३)

मन तू मानत क्यों न मना रे।

कौन कहन को कौन सुनन को दूजा कौन जना रे॥
दरपन में प्रतिबिंब जो भासे आप चहूँ दिसि सोई।
दुबिधा मिटै एक जब होवै तौ लख पावै कोई॥
जैसे जल ते हेम बनत है हेम धूम जल होई।
तैसे या तत वाहू तत सों फिर यह अरु वह सोई॥
जो समझै तो खरी कहन है ना समझै तो खोटी।
कह कबीर दोऊ पख त्यागै ताकी मति है मोटी॥

(४)

ना मैं धरमी नाहिं अधरमो ना मैं जती न कामी हो।
ना मैं कहता ना मैं सुनता ना मैं सेवक स्वामी हो॥
ना मैं बँधा ना मैं मुक्ता ना निरबँध सरबंगी हो।
ना काहू से न्यारा हूआ ना काहू को संगी हो॥

ना हम नरक लोक को जाते ना हम सरग सिधारे हो।
सब ही कर्म हमारा कीया हम कर्मन ते न्यारे हो॥
या मत को कोइ विरला बूझै सो सतगुरु हो बैठे हो।
मत कबीर काहू को थापे मत काहू को मेटे हो॥

(५)

साधो सतगुरु अलख लखाया आप आप दरसाया।
बीज मध्य ज्यों बृच्छा दरसै बृच्छा मद्धे छाया।
परमातम में आतम जैसे आतम मद्धे माया॥
आपहि बीज बृच्छ अंकूरा आप फूल फल छाया।
आपहि सूर किरन परकासा आप ब्रह्म जिव माया॥

(६)

हम सब माहिं सकल हम माहीं। हम थैं और दूसरा नाहीं।
तीन लोक में हमरा पसारा। आवागमन सब खेल हमारा॥
खट दरसन कहियत हम भेखा। हमहिं अतीत रूप नहिं रेखा।
हमहीं आप कबीर कहावा। हमहीं अपना आप लखावा॥

सूरदास

सूरदास हमारे हिन्दी साहित्य के एक अनूठे कविरत्न हैं। उन्हें पाकर हिन्दी कृतार्थ हो गई है, वह इस नवयुग की किसी भी ऊँची और समृद्ध भाषा के साथ अपना माथा ऊँचा करके बैठ सकती है। सूरदास की भाषा ब्रजभाषा है और विषय है वात्सल्य, शृंगार और शान्त रस। और उसके लिये पात्र ढूँढे हैं उन्हों ने—यशोदा-कृष्ण और कृष्ण-राधा। प्रकृति ने कितनी सुन्दर सामग्री जुटाई है। उस पर जो उनकी सुलझी हुई कूंची ने काम किया है, उसकी हमें कहीं उपमा नहीं मिलती। उनके पदों की स्वर-माधुरी, भाषा का लोच, विषय की सजीवता और सुन्दर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण—ये सब आश्चर्य की वस्तु हैं। श्रीकृष्ण की बाल-सुलभ लीलाओं का जैसा चित्रण उन्होंने किया है, उससे ऐसा जान पड़ता है, वे उनमें डूब कर

स्वयं कभी कृष्ण हो गये हैं और कभी यशोदा। कवि होने के लिये कितनी तल्लीनता और तन्मयता चाहिए, यदि किसी को इसकी अनुभूति प्राप्त करनी हो तो उसे सूर की कविता का अध्ययन करना चाहिए। उनका शृंगार अत्यन्त पवित्र है, वासना उससे छू नहीं गई। उससे उनके कृष्ण के प्रति भक्ति और अनुराग का उद्रेक होता है। श्रीमद्-भागवत का आश्रय लेकर उन्होंने यह सब रचना की है किन्तु श्रीमद्-भागवत में भी वह बात नहीं जो उनकी रचना में मिलती है। उनकी रचना को श्रीमद्भागवत का एक विशुद्ध संस्करण समझना चाहिए। भ्रमर-गीत श्रीमद्भागवत में भी है और उनकी रचना 'सूरसागर' में भी। दोनों एक दूसरे से उत्तम हैं किन्तु भागवत का शृंगार वासना की कुछ लाञ्छना लिए हुए है, उससे आजकल का तर्ककुशल व्यक्ति सन्तुष्ट नहीं होता, किन्तु सूरदास की रचना इस लाञ्छना से बिल्कुल विमुक्त है, उसमें किसी भी ऐसे तर्क का अवकाश नहीं।

भगवान के भक्त को किसी से लेना देना नहीं होता, उसका इष्टदेव ही उसका सर्वधन होता है, वह उसीके व्यवसाय में अपने आपको खो देता है, उसे कभी अपनी आत्मकथा की चर्चा करने का अवकाश ही नहीं मिलता। हमारे सूरदास भी पूर्ण भक्त थे, फिर भला वे अपने सम्बन्ध की चर्चा क्यों करते!

उनके जीवन के सम्बन्ध में जो कुछ हमें अधिक विश्वस्तरूप से मिलता है, उसके प्रधान आधार हैं—उनकी अपनी रचनाएं 'साहित्यलहरी' और 'सूरसारावली' और उनकी मृत्यु के थोड़े समय बाद लिखी हुई गोसाइं गोकुलनाथ की 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता'। 'वार्ता' में लिखा है—"वे एक सारस्वत ब्राह्मण थे, उनके पिता

का नाम रामदास था और उनका जन्म आगरा के पास रुणकता नामक गाँव में हुआ था"। साहित्य-लहरी के अन्तिम पद में जो वे अपने सम्बन्ध की चर्चा करते हैं उससे जान पड़ता है कि वे पृथ्वीराज के दरबारी कवि चंद-बरदाई के वंश के ब्रह्म भट्ट थे। वे जन्म के अन्धे थे। उनके छः भाई और भी थे, जिन्हें मुसल्मानों ने युद्ध में मार डाला था और उनकी मृत्यु के पीछे वे एक अनाथ की भाँति फिरा करते थे। कृष्णभक्ति का उनके हृदय में बचपन से बीज था। कहा जाता है एक दिन वे सहसा एक कूएं में गिर पड़े और छः दिन तक वहीं पड़े रहे। सातवें दिन भगवान कृष्ण ने उन्हें दिव्य दृष्टि देकर दर्शन दिया। दर्शन पाकर वे इतने मुग्ध हुए कि हाथ जोड़ कर उनसे प्रार्थना की कि तुम इन आँखों में सदा के लिये बसे रहो और इनके कपाट सदा के लिये बंद कर दो। तुम से भिन्न और मैं किसी वस्तु को न देख सकूँ। भगवान कृष्ण ने उन्हें कुएँ से बाहर निकाल दिया और वे ज्यों के त्यों अंधे हो गये और ब्रज में पहुँच कर कृष्ण का गुणगान और आराधन करने लगे।

किन्तु यह दूसरा पक्ष इतना विश्वस्त नहीं है क्योंकि हिन्दी-साहित्य के इतिहास लेखक इसे बाद में चंदबरदाई के किसी वंशज कवि का जोड़ा हुआ बतलाते हैं। कुछ भी हो यह निर्विवाद सिद्ध है कि वे एक अंधे कवि थे। ऐसे अंधे, जिनकी आँखें संसार के सामने सदा बंद रहती हैं और अपने इष्टदेव के सामने खुली, वे अपने इस अंधेपन को अपने प्रभु का पुण्य प्रसाद समझते थे। उनका सारा जीवन केवल अपने इष्टदेव के संकीर्तन में ही बीता। वे एक निपुण गायक भी थे। श्री वल्लभाचार्य उनसे एक बार मिले और उनकी गानमाधुरी और कृष्णप्रेम को देख कर उन पर मुग्ध हो गये, उन्होंने अपने साथ चलने का अनुरोध किया। फलतः सूरदास सदा के

लिये उनके साथ रहने लगे। अपने ठाकुर जी के सामने वे प्रतिदिन नये नये पद बना कर गाया करते थे। उसीके फल स्वरूप हमें उनका यह बृहत्-काय 'सूरसागर' नाम का ग्रन्थ मिलता है। सुनते हैं 'सूरसागर' में कुल मिला कर सवा लाख पद थे किन्तु आजकल केवल छः हज़ार पद ही मिलते हैं। 'सूरसारावली' और 'साहित्यलहरी' ये दो और छोटे छोटे ग्रन्थ भी उनके नाम से मिलते हैं। ऐतिहासिक खोज से ज्ञात हुआ है कि उनका जन्म संवत १५४८ में हुआ था और निधन संवत् १६४२ में। उनकी मृत्यु का स्थान पारासोली नामक गाँव बतलाया जाता है।

——·——

(१)

चरन-कमल बंदौं हरि राई ।

जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कों सब कछु दरसाई ॥
बहिरो सुनै, मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार बार बंदौं तेहि पाई ॥

(२)

कब तुम मोसो पतित उधारो ।

पतितनि में विख्यात पतित हौं, पावन नाम तिहारो ॥
बड़े पतित पासंगहुँ नाहीं, अजमिल कौन बिचारो ।
भाजे नरक नाम सुनि मेरो, जमनि दियो हठि तारो ॥
छुद्र पतित तुम तारि रमापति, जिय जु करौ जनि गारो ।
सूर, पतित कों ठौर कहूँ नहिं, है हरि-नाम सहारो ॥

(३)

दीनानाथ अब बार तुम्हारी ।

पतित उधारन बिरद जानि कै बिगरी लेहु सँभारी ॥
बालापन खेलत ही खोयो युवा विषय रस माते ।

वृद्ध भये सुधि प्रगटी मोकों दुखित पुकारत ताते ॥
सुतनि तज्यो तिय तज्यो भ्रात तजि तन-त्वच भई जु न्यारी।
श्रवण न सुनत चरण गति थाकी नैन भये जल-धारी ॥
पलित केस कफ कंठ निरोध्यौ कल न परै दिन-राती।
माया मोह न छाँड़ै तृस्ना ए दोऊ दुख-दाती ॥
अब या बिथा दूरि करिबे कों और न समरथ कोई ।
सूरदास प्रभु करुणासागर तुम तें होइ सु होई ॥

(४)

अबकै माधव मोहिं उधारि ।
मगन हौं भव-अम्बुनिधि में कृपा-सिंधु मुरारि ॥
नीर अति गंभीर माया लोभ लहर तरंग ।
लिये जात अगाध जल में गहे ग्राह-अनंग ॥
मीन इन्द्रिय अतिहिं काटति मोट अघ सिर भार।
पग न इत-उत धरन पावत उरझि मोह-सिवार ॥
काम क्रोध समेत तृस्ना पवन अति झकझोर।
नाहिं चितवन देत तिय सुत नाम-नौका ओर ॥
थक्यौ बीच बेहाल बिहवल सुनहु करुना-मूल ।
स्याम, भुज गहि काढ़ि डारहु सूर ब्रज के कूल ॥

(५)

प्रभु, मेरे औगुन चित न धरौ।
समदरसी प्रभु नाम तिहारो, अपने पनहिं करो ॥

इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परौ।
यह दुविधा पारस नहिं जानत, कंचन करत खरौ॥
इक नदिया इक नार कहावत, मैलो नीर भरौ।
जब मिलिकैं दोउ एक बरन भये, सुरसरि नाम परौ॥
एक जीव इक ब्रह्म कहावत, सूर-स्याम झगरौ।
अब की बेर मोहिं पार उतारौ, नहिं पन जात टरौ॥

(६)

तुम मेरी राखौ लाज हरी।
तुम जानत सब अंतरजामी, करनी कछु न करी॥
अवगुन मोतें बिसरत नाहीं, पल छिन घरी घरी।
सब प्रपंच की पोट बांध कर, अपने सीस धरी॥
दारा सुत धन मोह लिये हौं, सुधि बुधि सब बिसरी।
'सूर' पतित को बेगि उतारो, अब मेरी नाव भरी॥

(७)

आजहौं एक एक करि टरिहौं।
कै हमहीं कै तुमहीं माधव, अपुन भरोसो लरिहौं॥
हौं तो पतित चहौं पीढ़िन को, पतितै है निस्तरिहौं।
अबहौं उघरि नचन चाहत हौं तुमहै बिरद बिन करिहौं॥
कत अपनी परतीत नसावत, मैं पायो हरि हीरा।
'सूर' पतित तब हीं लै उठि है, जब हँसि देहौ बीरा॥

(८)

अब मोहि भीजत क्यों न उबारो ?
दीनबंधु करुनामय स्वामी, जन के दुःख निवारो ॥
ममता घटा मोह की बूँदें, सलिता मैन अपारो ।
बूड़त कतहुँ थाह नहिं पावत, गुरु-जन-ओट-अधारो ॥
गरजनि क्रोध लोभ को नारो, सूझत कहुँ न उधारो ।
तृसना तड़ित चमक छन ही छन, अहनिसि यह तन जारो ॥
यह सब जल कलिमलहि गहे है, बोरत सहस प्रकारो ।
'सूरदास' पतितन को संगी, बिरदहि, नाथ, संभारो ॥

(९)

अबिगत गति कुछ कहत न आवै ।
ज्यों गूँगो मीठे फल कौ रस अन्तर्गत ही भावै ॥
परम स्वादु सबही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै ।
मन बानी कों अगम अगोचर सो जानै जो पावै ॥
रूप-रेख-गुन-जाति जुगति बिनु निरालंब कित धावै ।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातें 'सूर' सगुन-पद गावै ॥

(१०)

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै ।
जैसे उड़ि जहाज कौ पंछी पुनि जहाज पै आवै ॥
कमलनैन कौ छाँड़ि महातम और देव को ध्यावै ।
परम गंग को छाँड़ि पियासो दुर्मति कूप खनावै ॥

जिन मधुकर अंबुज-रस चाख्यौ, क्यों करील-फल खावै।
'सूरदास,' प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै?

(११)

छांड़ि मन हरि विमुखन को संग।
जिनके संग कुबुद्धि उपजति है परत भजन में भंग॥
कहा होत पय पान कराये विष नहिं तजत भुजंग।
कागहि कहा कपूर चुगायो स्वान न्हवाये गंग॥
खर को कहा अरगजा लेपन मरकट भूषण अंग।
गज को कहा न्हवाये सरिता बहुरि धरै खहि छंग॥
पाहन पतित बाँस नहिं बेधत रीतो करत निषंग।
'सूरदास' खल कारी कामरि चढ़त न दूजो रंग॥

(१२)

सबै दिन गये विषय के हेत।
देखत ही आपुन पौ खोयो केस भये सब सेत॥
रुँध्यो स्वांस मुख बैन न आवत चंद्रा लगीं सँकेत।
तजि गंगोदक पिये कूपजल पूजत गाड़े प्रेत॥
करि प्रमाद गोविन्द विसारे बूड़्यौ सबनि समेत।
'सूरदास' कछु खरच न लागतु कृष्ण सुमिरि किन लेत?

(१३)

जा दिन मन-पंछी उड़ि जैहै।
ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहैं॥

घर के कहैं वेगि ही काढ़ो भूत भए कोउ खैहै।
जा प्रीतम सों प्रीत घनेरी, सोऊ देखि डरैहै॥
कहँ वह ताल, कहाँ वह सोभा, देखत धूरि उड़ैहै।
भाई-बंधु अरु कुटुँब-कबीला सुमिरि सुमिरि पछितैहै॥
बिनु गोपाल कोउ नहिं अपुनो, जस अपजस रहि जैहै।
सो, 'सूर' जु दुरलभ देवन को, सतसंगति में पैहै॥

(१४)

सबै दिन एक समान न जात।
सुमिरन ध्यान कियौ करि हरि कौ जब लगि तन कुसलात॥
कबहूँ कमला चपला पाकरि टेढ़े टेढ़े जात।
कबहुँक मग मग धूरि बटोरत भोजन कों बिलखात॥
या देही के गर्व बावरो तदपि फिरत इतरात।
बाद बिबाद सबै दिन बीते खेलत हीं अरु खात॥
हौं बड़, हौं बड़ कहत-कहावत सूधे करत न बात।
योग न जुगति ध्यान नहिं पूजा बृद्ध भयें अकुलात॥
बालापन खेलत हीं खोयौ तरुनापन अलसात।
'सूरदास' औसर के बीते रहि है पुनि पछितात॥

(१५)

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोई कछु गावै॥
मेरे लाल कों आउ निंदरिया, काहे न आनि सुवावै।
तू काहे नहिं वेगिहिं आवै, तोकों कान्ह बुलावै॥

कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै कै रही, करि-करि सैन बतावै॥
इहिं अंतर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरैं गावै।
जो सुख 'सूर' अमर-मुनि-दुरलभ, सो नंद-भामिनि पावै॥

(१६)

जागिए ब्रजराज-कुंवर, कमल कुसुम फूले।
कुमुद-बृंद सकुचित भये, भृंग लता भूले॥
तमचुर खग रौर सुनहु, बोलत बनराई।
रांभति गौ खरिकन में बछरा-हित धाई॥
बिधु मलीन रबि-प्रकास, गावत नर-नारी।
सूर, स्याम प्रात उठौ, अंबुज-कर-धारी॥

(१७)

कहां लौं बरनौं सुन्दरताई।
खेलत कुंवर कनक-आंगन में, नैन निरखि छबि छाई॥
कुलहि लसति सिर स्याम सुभग अति बहु बिधि सुरंग बनाई।
मानों नव घन ऊपर राजत, मघवा-धनुष चढ़ाई॥
अति सुदेस मृदु चिकुर हरत मन मोहन मुख बगराई।
मानों प्रगट कंज पर मंजुल अलि-अवली फिरि आई॥
नील सेत पर पीत लालमनि लटकन भाल लुनाई।
सनि गुरु-असुर देव-गुरु मिलि मनों भौम सहित समुदाई॥
दूध-दंत-दुति कहि न जाति अति अद्भुत इक उपमाई।
किलकत हँसत दुरत प्रगटत मनु घन में बिज्जु छपाई॥

खंडित बचन देत पूरन सुख अलप-अलप जलपाई।
घुटुरुन चलत रेनु तन-मंडित 'सूरदास' बलि जाई॥

(१८)

चोरी करत कान्ह धरि पाए।
निसि बासर मोहिं बहुत सतायो अब हरि हाथहिं आए॥
माखन दधि मेरो सब खायो, बहुत अचगरी कीन्ही।
अब तो आइ परे हौ लालन, तुम्है भले मैं चीन्ही॥
दोउ भुज पकरि कह्यौ,—कित जैहौ, माखन लेउँ मँगाई।
तेरी सौं, मैं नेकु न खायो सखा गए सब खाई॥
मुख तन चितै बिहँसि हँसि दीन्हो, रिस तब गई बुझाई।
लियो उर लाइ ग्वालिनी हरि को, 'सूरदास' बलि जाई॥

(१९)

मैया मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि, मेरे मुख लपटायौ॥
देखि तुही सींके पर भाजन ऊँचे धरि लटकायौ।
तुही निरखि नान्हे कर अपनैं, मैं कैसैं करि पायौ॥
मुख-दधि पौंछि बुद्धि इक कीन्हीं, दौना पीठि दुरायौ।
डारि सांटि मुसुकाइ जसोदा स्यामहिं कंठ लगायौ॥
बाल-बिनोद मोद मन मोह्यौ, भक्ति प्रताप दिखायौ।
'सूरदास' यह जसुमति कौ सुख,सिव-बिरंचि नहिं पायौ॥

(२०)

आज मैं गाइ चरावन जैहौं।
बृंदावन के भांति भांति फल, अपने कर मैं खैहौं॥
ऐसे अबहिं कहो जनि बारे, देखौ अपनी भांति।
तनिक तनिक पग चलिहौ कैसे, आवत ह्वैहै राति॥
प्रात जात गैयां लै चारन घर आवत है सांझ।
तुम्हरो कमल बदन कुम्हिलैहै रेंगत घामहिं मांझ॥
तेरी सौं मोहिं घाम न लागत, भूख नहीं कछु नेक।
'सूरदास' प्रभु कह्यो न मानत परे आपनी टेक॥

(२१)

मैया, मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसों कहत मोल कौ लीन्हौं, तू जसुमति कब जायौ॥
कहा कहौं, इहिं रिस के मारे खेलन हौं नहिं जात।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरो तात॥
गोरे नंद जसोदा गोरी, तू कत स्याम सरीर।
चुटकी दै-दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर॥
तू मोहीं कों मारन सीखी, दाउहिं कबहुं न खीझै॥
मोहन-मुख रिस की ये बातें, जसुमति सुनि-सुनि रीझै॥
सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत।
'सूर' स्याम मोहिं गो-धन की सौं, हौं माता तू पूत॥

(२२)

खेलत में को काको गुसैयां।

हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबसहीं कत करत रिसैयाँ॥
जाति-पाँति हमतें बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत हम पै, हैं कछु अधिक तुम्हारैं गैयाँ॥
रूहठि करै तासों को खेलै, कहे बैठि जहँ-तहँ सब ग्वैयाँ।
'सूरदास' प्रभु खेलोइ चाहत, दाँव दियौ करि नंद-दुहैयाँ॥

(२३)

सखा कहत हैं स्याम खिसाने।

आपुहि आपु ललकि भए ठाढ़े, अब तुम कहा रिसाने?
बीचहि बोलि उठे हलधर तब—इनके माय न बाप।
हार जीत कछु नेक न जानत लरिकन लावत पाप॥
आपुन हारि सखा सौं झगरत,—यह कहि दिए पठाई।
'सूर' स्याम उठि चले रोइकै, जननी पूछति धाई॥

(२४)

द्वारे टेरत हैं सब ग्वाल,—कन्हैया, आवहु बार भई।
आवहु बेगि, बिलम जनि लावहु, गैयाँ दूरि गईं॥
इहि सुनतहि दोऊ उठि धाए, कछु अँचयौ कछु नाहीं।
कितिक दूर सुरभी तुम छाँड़ी, बन तौ पहुँची आहीं॥
ग्वाल कह्यो कछु पहुँची ह्वैहैं, कछु मिलिहैं मग माहीं।
'सूर' स्याम बल मोहन भैया, गैयन पूछत जाहीं॥

(२५)

जसोदा कान्ह कान्ह कै बूझै।
फूटि न गईं तिहारी चारौ, कैसे मारग सूझै॥
इक तनु जरो जात बिन देखे, अब तुम दीनों फूँक।
यह छतियाँ मेरे कुँवर कान्ह बिनु फटि न गई द्वै टूक॥
धिग तुम, धिग ये चरन अहो पति, अध-बोलत उठि धाये।
'सूर' स्याम-बिछुरन की हम पै देन बधाई आये॥

(२६)

ऊधो, अँखियाँ अति अनुरागी।
इकटक मग जोवति अरु रोवति, भूलेहुँ पलक न लागी॥
बिन पावस पावस-रितु आई, देखत हौ विदमान।
अबधौं कहा कियो चाहत हौ, छाँड़हु नीरस ज्ञान॥
सुनु प्रिय सखा स्यामसुन्दर के जानत सकल सुभाव।
जैसें मिलैं 'सूर' हमकों, सो कछु करहु उपाव॥

(२७)

ऊधो, मन नाहीं दस-बीस।
एक हुतो सो गयौ स्याम-संग, को अवराधै ईस॥
सिथिल भईं सबहीं माधौ बिनु जथा देह बिनु सीस।
स्वासा अटकि रही आसा लगि जीवहिं कोटि बरीस॥
तुम तौ सखा स्यामसुंदर के, सकल जोग के ईस।
'सूरदास' रसिक की बतियाँ पुरवौ मन जगदीस॥

(२८)

ऊधो, मन माने की बात।
दाख-छुहारो छांड़ि अमृत-फल, बिष-कीरा बिष खात॥
जो चकोर कों देइ कपूर कोउ, तजि अँगार न अघात।
मधुप करत घर कोरि काठ में, बंधत कमल के पात॥
ज्यों पतंग हित जानि आपनो, दीपक सों लपटात।
'सूरदास' जाकौ मन जासों, सोई ताहि सुहात॥

(२९)

अँखियां हरि-दरसन की भूखी।
कैसे रहैं रूप-रस रांची ये बतियां सुनि रूखी॥
अवधि गनत इकटक मग जोवत तब ये तौ नहिं भूखी।
अब इन जोग सँदेसनि ऊधो, अति अकुलानी दूखी॥
बारक वह मुख फेरि दिखावहु दुहि पय पिवत पतूखी।
'सूर' जोग जनि नाव चलावहु ये सरिता हैं सूखी॥

(३०)

ऊधो, हमहिं कहा समझावहु ?
पसु, पंछी, सुरभी ब्रज की सब, देख स्रवन सुनि आवहु॥
तृन न चरत गो, पिवत न सुत पय, ढूँढत बन बन डोलैं।
अलि कोकिल जे आदि विहंगम, भीत भयानक बोलैं॥
जमुन भई तन स्याम, स्याम बिन, अंध छीन जे रोगी।
तरुवर पत्र वसन न सँभारत, बिरह बृच्छ भये योगी॥

गोकुल के सब लोग दुखित हैं, नीर बिना ज्यों मीन।
'सूरदास' प्रभु प्रान न छूटत, अवधि आस के लीन॥

(३१)

ऊधो, इतनी कहियो जाइ।
अति कृस-गात भई हैं तुम बिन परम दुखारी गाइ॥
जल-समूह बरसतिं दोउ आंखें, हूँकतिँ लीन्हें नांव।
जहां जहां गो-दोहन कीन्हो, सूँघत सोई ठांव।
परत पछार खाइ छिन ही छिन अति आतुर ह्वै दीन।
मानहु 'सूर' काढ़ि डारी हैं बारि-मध्य तें मीन॥

(३२)

ब्रज के बिरही लोग दुखारे।
बिन गोपाल ठगे-से ठाढ़े अति दुर्बल तनु कारे॥
नंद-जसोदा मारग जोवत नित उठि सांझ-सबारे।
चहुँ दिसि कान्ह-कान्ह के टेरत अँसुवन बहत पनारे॥
गोपी गाइ ग्वाल गो-सुत सब अतिहीं दीन बिचारे।
'सूरदास' प्रभु बिन यौं सोभित चंद्र बिना ज्यौं तारे॥

(३३)

प्रीति करि काहूँ सुख न लह्यौ।
प्रीति पतंग करी दीपक सौं, आपै देह दह्यौ॥
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सौं, संपुट मांझ गह्यौ।
सारँग प्रीति जो करी नाद सौं, सनमुख बान सह्यौ॥

हम जो प्रीति करी माधव सों, चलत न कछू कह्यौ।
'सूरदास' प्रभु बिनु दुख-पावर्ति नैननि नीर बह्यौ॥

(३४)

मधुबन तुम कत रहत हरे ?
बिरह-बिजोग स्यामसुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे ?
तुम हो निलज, लाज नहिं तुमको, फिर सिर पुहुप धरे।
ससा स्यार औ बन के पखेरू धिक धिक सबन्ह करे॥
कौन काज ठाढ़े रहे बन में काहे न उकठ परे ?

(३५)

कह्यौ कान्ह, सुनि जसुमति मैया।
आवहिंगे दिन चारि-पांच में हम हलधर दोउ भैया॥
मुरली बेंत बिखान देखियो सींगी बेर-सबेरो।
लै जिनि जाइ चुराइ राधिका कछुक खिलौना मेरो॥
जा दिनतें तुमसों बिछुरे हम, कोउ न कहत कन्हैया।
भोरहि नाहिं कलेऊ कीन्हो, सांझ न पय पियो धैया॥
कहत न बन्यौ सँदेसो मोपै—जननि जितो दुख पायो।
अब हमसों बसुदेव-देवकी कहत आपुनो जायो॥
कहिए कहा नंद बाबा सों बहुत निठुर मन कीन्हो।
'सूर' हमहिं पहुँचाइ मधुपुरी बहुरौ सोध न लीन्हो॥

(३६)

ऊधो, मोहिँ ब्रज बिसरत नाहीं ।

हंस-सुता की सुंदर कगरी अरु कुंजन की छाहीँ ।
वे सुरभीं, वे बच्छ, दोहिनी, खरिक दुहावन जाहीँ ॥
ग्वाल बाल सब करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाहीँ ।
यह मथुरा कंचन की नगरी मनि मुकताहल जाहीँ ॥
जबहिं सुरति आवति वा सुख की जिय उमगत तनु नाहीँ ।
अनगन भाँति करी बहुलीला जसुदानंद निबाहीँ ॥
'सूरदास' प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि कहि पछताहीँ ॥

(३७)

हम भगतन के भगत हमारे ।

सुन अर्जुन परतिग्या मोरी यह ब्रत टरत न टारे ॥
भगतन काज लाज हिय धरिकैँ पाँय पियादे धायौं ।
जहँ-जहँ भीर परी भगतन पै तहँ तहँ होत सहायौं ॥
जो भगतन सों बैर करत हैं सो निज बैरी मेरो ।
देख बिचार भगत-हित कारन हाँकत हौं रथ तेरो ॥
जीत जीत भगत अपने की हारे हार बिचारों ।
'सूर' स्याम जो भगत-बिरोधी चक्र सुदर्शन मारों ॥

मीराबाई

'मीरा' जोधपुर के अन्तर्गत मेड़ता के सामन्त राव रत्नसिंह की इकलौती बेटी थीं। १५७३ विक्रमी संवत् में उनका जन्म हुआ था। शैशव काल में ही माता का देहान्त हो जाने से उनका लालन-पालन पिता और पितामह ही करते रहे। सिसौदिया-वंश के प्रसिद्ध राणा सांगा के सुपुत्र भोजराज से उनका विवाह हुआ। कबीर के गुरुभाई रैदास उनके गुरु थे। राव दूदा, मीरा के पितामह परम भक्त थे, बालपन से ही मीरा पर उनकी भक्ति का प्रभाव पड़ा था।

विवाह के बाद मीरा चित्तौड़ चली गई। किन्तु यह सुख उनके भाग्य में नहीं बदा था। वे केवल सात साल के बाद ही विधवा हो गई। किन्तु वैधव्य से उनको उतना शोक नहीं हुआ। वे कृष्ण-प्रेम में तो पहले ही रंगी थीं, अब पूर्णरूप से उन्होंने श्रीकृष्ण को आत्मार्पण कर दिया वे

अब उन्हें ही अपना पति समझ कर उनकी आराधना करने लगीं। साधु-संग, श्रीकृष्ण की लीला-अर्चा और पुजा-चर्चा,—बस यही मीरा का प्रतिदिन का काम था। यह बात उनके देवर राव विक्रमादित्य को अच्छी नहीं लगती थी। उसने उनका भारी विरोध किया। जब वे किसी तरह भी न मानीं तो उसने उनका प्राणान्त तक करने की चेष्टा की। एक वार विष मिला कर दूध का प्याला उनके पीने को भेजा। मीरा ने उसे भगवान् का चरणामृत समझा और पी गईं, किन्तु उस तीक्ष्ण विष का कुछ भी प्रभाव न पड़ा। अन्त में वहुत विरोध किये जाने के वाद मीरा मथुरा वृन्दावन की यात्रा करने के लिये चली गईं। शेष जीवन उन्होंने वहीं अपने आराध्य देव की सेवा-पुजा में विता दिया। इनका देहान्त सं० १६२० और ३० के वीच में वतलाया जाता है।

मीरा की कविता कृष्णप्रेम से पूर्ण है। उसमें उनके विनय की संयोग और वियोग की भावना एक अपूर्व वस्तु है। उनके पद्यों से प्रभावित होकर हिन्दी समाज उन्हें सूर और तुलसी के सदृश मानता है। हिन्दी की स्त्रीकवियों में उनका आसन सर्वश्रेष्ठ है। उनकी मातृभाषा राजस्थानी (मारवाड़ी) है किन्तु कविता में व्रज, अवधी, गुजराती और कहीं कहीं खड़ीबोली के भी रूप मिलते हैं। भावों को व्यक्त करने के लिये व्यञ्जना से काम लिया गया है किन्तु उसमें कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं आने पाई। वस्तुतः मीरा कृष्ण के प्रेम में इतनी मग्न रहती थीं कि प्रेम के उद्वेग में जो कुछ उन्होंने गाया वह सत्य, शुद्ध और स्वाभाविक रूप से कविता वन गई। उसमें प्रसाद गुण की मात्रा पूरे परिमाण में मौजूद है। 'नरसी जी का मायरा' और 'राग-गोविन्द' मीरा के लिखे हुए ये दो ग्रन्थ वतलाए जाते हैं।

(१)

हरि ! तुम हरो जन की भीर ॥
द्रौपदी की लाज राखी, तुम बढायो चीर ॥१॥
भक्त कारन रूप नरहरि, धर्यो आप सरीर ॥२॥
हरिनकस्यप मार लीन्हों, धर्यो नांहिन धीर ॥३॥
बूडते गजराज राख्यो, कियो बाहर नीर ॥४॥
दास 'मीरा' लाल गिरधर, दुख जहां तहँ पीर ॥५॥

(२)

तुम सुनो दयाल म्हाँरी अरजी।
भौसागर में बही जात हूँ काढ़ो तो थाँरी मरजी।
यों संसार सगो नहिं कोई सांचा सगा रघुवर जी॥
मात पिता और कुटुम्ब कबीला सब मतलब के गरजी।
'मीरा' को प्रभु अरजी सुन लो चरन लगाओ थाँरी मरजी॥

(३)

मीरा को प्रभु साची दासी बनाओ।
झूठे धंधों से मेरा फंदा छुड़ाओ॥
लूटे ही लेत विवेक का डेरा।
बुधि-बल यदपि करूँ बहुतेरा॥
हाय राम नहिं कुछ बस मेरा।
मरत हूँ विवस, प्रभु धाओ सवेरा॥
धर्म उपदेश नित प्रति सुनती हूँ।
मन कुचाल से भी डरती हूँ॥
सदा साधु सेवा करती हूँ।
सुमिरण ध्यान में चित धरती हूँ॥
भक्ति मार्ग दासी को दिखाओ।
'मीरा' को प्रभु साची दासी बनाओ॥

(४)

अब मैं शरण तिहारी जी, मोहि राखो कृपानिधान।
अजामील अपराधी तारे, तारे नीच सदान।
जल डूबत गजराज उबारे, गणिका चढ़ी विमान॥
और अधम तारे बहुतेरे, भाखत संत सुजान।
कुबजा नीच भीलिनी तारी, जाने सकल जहान॥
कहँ लगि कहूँ गिनत नहिं आवे? थकि रहे वेद पुरान।
'मीरा' कहे मैं शरण रावरी, सुनियो दोनों कान॥

(५)

स्वामी सब संसार के हो सांचे श्री भगवान।
स्थावर, जंगम, पावक-पाणी, धरती बीच समान॥
सब में महिमा तेरी देखी, कुदरत के कुरबान॥
सुदामा के दारिद खोये, बारे की पहचान।
दो मुट्ठी तंदुल की चावी, दीन्हों द्रव्य महान॥
भारत में अर्जुन के आगे, आप भये रथवान।
उन ने अपने कुल को देखा, छुट गये तीर कमान॥
ना कोई मारे, न कोई मरता, तेरा यह अज्ञान।
चेतन जीव तो अजर अमर है, यह गीता को ज्ञान॥
मुझ पर तो प्रभु किरपा कीजै, बंदी अपनी जान।
'मीरा' गिरधर सरण तिहारो लगै चरण में ध्यान॥

(६)

मेरा बेड़ा लगाय दीजो पार, प्रभु अरज करूँ छूँ।
या भव में मैं बहु दुख पायो, संसा सोग निवार।
अष्ट करम की तलब लगी है, दूर करो दुख पार॥
यो संसार सब बह्यो जात है, लख चौरासी धार।
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर, आवागवन निवार॥

(७)

अब तो निभायां बनेगा बांह गहे की लाज।
समरथ सरण तुम्हारी साइयां, सरब सुधारण काज॥

भवसागर संसार अपरबल जा में तुम हो जहाज।
निरधारां आधार जगत-गुरु, तुम बिन होय अकाज॥
जुग जुग भीर हरी भक्तन की, दीन्ही मोच्छ समाज।
'मीरा' सरण गही चरणन की, पेज रखो महराज॥

(८)

हरि मेरे जीवन प्रान अधार।
और आसिरो नांही तुम बिन तीनूं लोक मंझार॥
आप बिना मोहि कछु न सुहावै निरख्यौ सब संसार।
'मीरा' कहै मैं दास रावरी दीज्यौ मती बिसार॥

(९)

हरि बिन कूण गती मेरी।
तुम मेरे प्रतिपाल कहिये मैं रावरी चेरी॥
आदि अंत निज नांव तेरो हीया में फेरी।
बेरि बेरि पुकारि कहूँ प्रभु आरति है तेरी॥
यौ संसार विकार सागर बीच में घेरी।
नाव फाटी प्रभु पालि बांधो बूडत है बेरी॥
बिरहणि पिव की बाट जोवै राखिल्यौ नेरी।
दास 'मीरा' राम रटत है मैं सरणि हूं तेरी॥

(१०)

जब से मोहिं नंद नँदन दृष्टि पड़्यो माई।
तब से परलोक लोक कछू न सोहाई॥

मोरन की चन्द्र कला, सीस मुकुट सोहै।
केसर को तिलक भाल, तीन लोक मोहै॥
कुण्डल की अलक, झलक कपोलन पर छाई।
मनो मीन सरवर तजि, मकर मिलन आई॥
कुटिल भृकुटि,तिलक भाल, चितवन में टौना।
खंजन अरु मधुप मीन, भूले मृग-छौना॥
सुन्दर अति नासिका, सुग्रीव तीन रेखा।
नटवर प्रभु वेष धरे, रूप अति विशेषा॥
अधर बिंब, अरुन नैन, मधुर मंद हांसी।
दसन दमक दाड़िम दुति चमके चपला सी॥

(११)

घड़ी एक नहीं आवड़े, तुम दरसण बिन मोय।
तुम हो मेरे प्राण जी, कासूँ जीवण होय?
धान न भीवे,नींद न आवे, बिरह सतावे मोय॥
घायल सी घूमत फिरूँ, रे, मेरा दरद न जाणै कोय।
दिवस तो खाय गमायो, रे, रैण गमाई सोय॥
जो मैं ऐसा जानती, रे, प्रीति किये दुख होय।
नगर ढिंढोरा फेरती, रे, प्रीति करो मत कोय॥
पंथ निहारूँ डगर बुहारूँ, ऊभी मारग जोय।
'मीरा' के प्रभु कब रे मिलोगे ! मिलयां सुख होय॥

(१२)

हेरी मैं तो दरद दिवाणी, मोरा दरद न जाणै कोइ।
घाइल की गति घाइल जाणैं, की जिण लाई होइ।
जौहरि की गति जौहरी जाणैं, की जिन जौहर होइ॥
सूली ऊपर सेज हमारी, सोवणा किस विध होइ।
दरद की मारी बन बन डोलूँ, बैद मिल्या नहिं कोइ॥
गगन मँडल पै सेज पिया की, किस विधि मिलणा होइ।
'मीरा' की प्रभु पीर मिटेगी, जब बैद सांवलिया होइ॥

(१३)

प्रभु बिन ना सरै माई।
मेरा प्रान निकस्या जात हरी बिन ना सरै माई॥
कमठ दादुर बसत जल में जल से उपजाई।
मीन जल से बाहर कीना तुरत मर जाई॥
काठ लकरी बन परी काठ घुन खाई।
ले अगन प्रभु डार आये भसम हो जाई॥
बन बन ढूँढत मैं फिरी आली सुधि नहिं पाई।
एक बेर दरसण दीजै सब कसर मिटि जाई॥
पात ज्यों पीरी परी अरु विपत तन छाई।
दास 'मीरा' लाल गिरधर मिल्या सुख छाई॥

(१४)

देखो सइयां, हरि मन काठ कियो।
आवन कहि गयो अजहुँ न आयो करि करि बचन गयो।
खान पान, सुध-बुध, सब बिसरो, कैसे करि मैं जियों॥

वचन तुम्हारे तुमहिं विसारे, मन मेरो हर लियो।
'मीरा' कहे प्रभु गिरधर नागर, तुम बिन फाटत हियो ॥

(१५

माई, मैं तो लियो रमैयो मोल।

कोई कहे छानी, कोई कहे चोरी, लियो है बजंता ढोल ॥
कोई कहे कारो, कोइ कहे गोरो, लियो है मैं आंखी खोल ।
कोई कहे हल्का, कोई कहे भारी, लियो है तराजू तौल ॥
तन का गहना मैं सब कुछ दीन्हा, दिणे हैं बाजूबंद खोल।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर, पुरब जन्म का है कौल ॥

(१६)

पायौ जी मैंने राम-रतन धन पायौ।

वस्तु अमोलक दी मेरे सतगुर, करि किरपा अपणायौ ॥
जनम जनम की पूँजी पाई, जग में सबै खोवायौ ।
खरचै नहिं कोई चोर ना लेवै, दिन दिन बढ़त सवायौ ॥
सत की नाव खेवटिया सतगुर, भवसागर तरि आयौ।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर, हरखि हरखि जस गायौ ॥

(१७)

मेरो तो एक राम नाम दूसरा न कोई ।
दूसरा न कोई साधो सकल लोक जोई ॥
भाई छोड़या, बन्धु छोड़या, छोड़या सगा सोई।
साधु संग बैठ बैठ लोक लाज खोई ॥

भगत देख राजी भई, जगत देख रोई ।
प्रेम नीर सींच सींच विष बेल धोई ॥
दधि मथ घृत काढ लियो डार दियो छोई ।
राणा विष को प्यालो भेज्यो पीय मगन होई ॥
अब तो बात फैल पड़ी जाने सब कोई ।
'मीरा' राम लगन लगी होनी होय सो होई ॥

(१८)

मन रे ! परस हरि के चरन ।
सुभग सीतल कमल-कोमल, त्रिविध-ज्वाला-हरन ।
जे चरन प्रह्लाद परसे, इन्द्र पदवी धरन ॥
जिन चरन ध्रुव अटल कीन्हों, राखि अपने सरन ।
जिन चरन ब्रह्मांड भेट्यो, नखसिखौ श्रीभरन ॥
जिन चरन प्रभु परसि लीन्हें, तरी गौतम-घरन ।
जिन चरन कालीहि नाथ्यो, गोपलीला करन ॥
जिन चरन धारयो गोवर्द्धन, गरब मघवा हरन ।
दास 'मीरा' लाल गिरधर, अगम तारन तरन ॥

(१६)

भज मन चरण कमल अविनासी ।
जेतइ दीसे धरनि गगन बिच, तेतइ सब उठ जासी ।
कहा भयो तीरथ व्रत कीन्हें, कहा लिये करवत कासी ॥
इस देही का गरब न करना, माटी में मिल जासी ।
यो संसार चहर की बाजी, सांझ पड़्यां उठ जासी ॥

कहा भयो है भगवा पहिरयां, घर तज भये सन्यासी ।
जोगी होय जुगुति नहिं जानी, उलटि जनम फिर आसी ॥
अरज करों अबला कर जोरे, स्याम तुम्हारी दासी ।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर, काटो जम की फांसी ॥

(२०)

चलो मन गंगा जमना तीर ।
गंगा जमना निरमल पाणी सीतल होत सरीर ।
बंसी बजावत गावत कान्हो संग लियां बलबीर॥
मोर मुकुट पीतांबर सोहै कुंडल झलकत हीर ।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल पै सीर॥

(२१)

राम नाम रस पीजे मनुआं, राम नाम रस पीजे।
तज कुसंग सतसंग बैठ नित, हरि चरचा सुन लीजे ॥
काम क्रोध मद लोभ मोह कूँ, चित से बहाय दीजे।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर, ताहि के रंग में भीजे॥

(२२)

मेरो मन रामहि राम रटै रे ।
राम नाम जप लीजे प्राणी, कोटिक पाप कटै रे ।
जनम-जनम के खत जु पुराने, नामहिं लेत फटै रे ॥
कनक कटोरे इमृत भरियो, पीवत कौन नटै रे।
'मीरा' कहे प्रभु हरि अबिनासी, तनयन ताहि पटै रे ॥

(२३)

जग में जीवणा थोड़ा, राम कुण कह रे जंजार।
मात पिता ते जन्म दियो है, करम दियो करतार।
कइ रे खाइयो कइ रे खरचियो,कइ रे कियो उपकार॥
दिया लिया तेरे संग चलेगा, और नहीं तेरी तार।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर, भज उतरो भवपार॥

(२४)

यहि विधि भक्ति कैसे होय ?

मन की मैल हिय तें न छूटी,दियो तिलक सिर धोय॥
काम-कूकर लोभ-डोरी, बांधि मोहिं चंडाल।
क्रोध-कसाई रहत घट में, कैसे मिलै गोपाल?
बिलार-विषया लालची रे, ताहि भोजन देत।
दीन हीन है छुधारत से, राम नाम लेत॥
आपहि आप पुजाय के रे, फूले अंग न समात।
अभिमान टीला किये बहु, कहु जल कहां ठहरात?
जो तेरे हिये अंतर की जानै, तासों कपट न बनै।
हिरदे हरि को नाम न आवै, मुख ते मनिया गनैं॥
हरी हितु से हेत कर, सागर आसा त्याग।
दास 'मीरा' लाल गिरधर, सहन कर वैराग॥

(२५)

नहिं ऐसो जनम बारंबार।

का जानूं कछु पुण्य प्रगटे, मानुषा अवतार॥

बढ़त छिन छिन घटत पल पल जात न लागे बार।
बिरछ के ज्यों पात टूटे, लागे बहुरि न डार॥
भौसागर अति जोर करिए, विषम ओखी धार।
राम नाम का बांध बेड़ा, बेगि उतरे पार॥
ज्ञान-चोसर मँडी चोहटे, सुरत पासा सार।
या दुनिया में रची बाजी, जीत भावें हार॥
साधु संत महंत ग्यानी चलत करत पुकार।
दास 'मीरा' लाल गिरधर जीवणा दिन चार॥

(२६)

करम गति टारे नाहिं टरे।
सतबादी हरिचँद से राजा, सो तो नीच घर नीर भरे।
पाँच पांडु अरु सती द्रोपदी, हाड हिमालै गरे॥
जग्य कियो बलि लेण इन्द्रासण, सो पाताल धरे।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर, बिख से अमृत करे॥

तुलसीदास

कला की दृष्टि से कविता के अंदर जितने गुण होने चाहिएं, गोस्वामी तुलसीदास की कविता में वे सब पूरे परिमाण में मौजूद हैं। उन्होंने हिन्दी में जो स्थान प्राप्त किया है, आज तक कोई भी उस तक नहीं पहुँच सका। कविता के कुछ पारखियों ने सूरदास को उनकी कोटि का बतलाने की चेष्टा की है किन्तु कविता के सभी अंगों को दृष्टि के सामने रक्खा जाए तो सूरदास कुछ थोड़ा पीछे ही रह जाते हैं। इन दोनों ने केवल अपने इष्टदेव के रिझाने के लिये लिखा है। दोनों म पूर्ण पाण्डित्य भी है और पूर्ण भावुकता भी। किन्तु सूरदास की कविता में भक्ति का एक-छत्रराज्य है, पाण्डित्य उसके सामने पानी भरता है। तुलसीदास की कविता में भक्ति के साथ ही पाण्डित्य भी एक साथ होकर चलता है,

इन दोनों में उन्होंने सौहार्द स्थापित किया है। उन्होंने जीवन की सभी परिस्थितियों पर लिखा है और पूरी तल्लीनता के साथ। किन्तु सूरदास जी की कविता जितनी भक्त-समाज के काम की बन सकी है उतनी सर्वसाधारण के काम की नहीं। उसका प्रचार-क्षेत्र कुछ सीमित है। तुलसीदास के रामचरितमानस का जितना लोक-समाज में आदर हुआ है, वह किसी मान-दण्ड से नहीं मापा जा सकता।

अच्छा तो, ये तुलसीदास थे कौन ? उन्होंने अपना अता-पता हमें कुछ भी नहीं दिया। उनके सम्बन्ध में हमें जो कुछ मिलता है, उसके आधार हैं—बाबा माधोदास का तुलसीचरित्र, नाभादास का भक्तमाल, महात्मा रघुवरदास का तुलसीचरित तथा दो एक और ग्रन्थ। इन सब में उनके जीवन की घटनाओं का कहीं कहीं आपस में विरोध भी मिलता है, जो घटनाएं एक साथ मिलती जुलती हैं, उनका उल्लेख नीचे किया जाता है :—

राजापुर, बांदा ज़िले का एक गाँव उनकी जन्मभूमि थी। श्रावण शुक्ला सप्तमी १५८६ को उनका जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम आत्माराम था और माता का नाम हुलसी। वे सरयूपारीण कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनका जन्म फलित ज्योतिष के अनुसार एक अमङ्गल नक्षत्र में हुआ था। शैशवकाल में ही उनकी माता का देहान्त होगया और पिता ने उनको त्याग दिया। माता पिता से परित्यक्त होकर वे एक महात्मा नरहरि का आश्रय पाकर खूब चमके। उस महात्मा ने ही उनके कान में बचपन से ही रामभक्ति का मन्त्र फूंका था। उनका विवाह भी हुआ था और पत्नी में उनकी भारी अनुरक्ति थी। एक समय वह उनकी अनुमति के

बिना पीहर चली गई। वे भी उसके पीछे हो लिये। उसने खूब फटकार सुनाई, कहा—

> लाज न आवत आप को, दौरे आयहु साथ।
> धिग धिग ऐसे प्रेम को, कहा कहहुँ हौं नाथ॥
> अस्थि-चरममय देह मम, तामें एती प्रीति।
> होती जो श्रीराम महँ, होती न तो भवभीति॥

यह फटकार उनका काम कर गई और यह सब मोह जाल छोड़ दिया। वे गृहस्थ से वैरागी होगए।

उत्तर भारत के प्रायः सभी तीर्थों में वे घूमे। फिर काशी में उस समय के महान् पण्डित शेष सनातन के पास रह कर विद्याध्ययन करने लगे। पंद्रह वर्ष तक उन्होंने अध्ययन किया। इसके बाद कुछ काशी में और कुछ अयोध्या में रह कर उन्होंने रामचरितमानस की रचना की। इसके अतिरिक्त और भी कई ग्रन्थ लिखे, जिन की संख्या प्रायः २० तक पहुँचती है। उनमें १२ ऐसे हैं, जिनका लोकसमाज में बहुत अधिक आदर है, उनके नाम नीचे दिये जाते हैं—

विनयपत्रिका—अनेक राग-रागनियों में स्तुति और विनय के पद।

बरवैरामायण—बरवै छन्दों में रामचरित का वर्णन।

गीतावली—कथा वही रामायण से सम्बन्ध रखने वाली और राग-रागिनीयुक्त।

रामाज्ञा—शकुनशास्त्र पर पद्यबद्ध रचना ।

कृष्णगीतावली—कृष्ण-गुणगान ।

दोहावली—उपदेश और भगवद्भक्ति से सम्बन्ध रखने वाले दोहे ।

पार्वतीमंगल—शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन ।

जानकीमंगल—सीता जी की चरितगाथा ।

कवितावली—कवित्त सवैया और घनाक्षरी आदि छन्दों में राम गुणगान ।

वैराग्यसंदीपनी—संत-महात्माओं की गुणगाथा ।

रामलला-नहछू—विवाह काल में पढ़ने योग्य सुन्दर छंद ।

संवत् १९८० श्रावण शुक्ला सप्तमी को तुलसीदास जी ने असी और गंग के संगम पर अपने भौतिक देह का त्याग किया । इस सम्बन्ध में यह दोहा बहुत प्रसिद्ध है—

संवत् सोरह सौ असी असीगंग के तीर ।
श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी तज्यो शरीर ॥

वन जाने के लिये सीता जी का अनुरोध

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई।
प्रिय परिवारु सुहृद-समुदाई॥
सासु ससुर गुरु सजन सहाई।
सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते।
पिय बिनु तियहि तरनि ते ताते॥
तनु धनु धाम धरनि सुरराजू।
पति विहीन सबु सोक समाजू॥
भोग रोग-सम, भूषण भारू।
जम-जातना-सरिस संसारू॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं।
मो कहँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥
जिअ बिन देह नदी बिनु बारी।
तैसिय नाथ पुरुष बिनु नारी॥

नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे।
सरद-बिमल-बिधु-बदनु निहारे ॥

खग मृग परिजन नगर बनु बलकल बिमल दुकूल।
नाथ साथ सुर-सदन-सम परन-साल सुख-मूल।

बनदेवी बनदेव उदारा।
करिहहिं सासु-ससुर-सम सारा ॥
कुस-किसलय-साथरी सुहाई।
प्रभु सँग मंजु मनोजतुराई ॥
कन्द मूल फल अमिअ अहारू।
अवध सौंध सत सरिस पहारू ॥
छिनु छिनु प्रभु-पद-कमल बिलोकी।
रहिहौं मुदित दिवस जिमि कोकी ॥
बनदुख नाथ कहे बहुतेरे।
भय विषाद परिताप घनेरे ॥
प्रभु-बियोग-लव-लेस-समाना।
सब मिलि होहिं न कृपानिधाना ॥
अरु जिय जानि सुजान-सिरोमनि।
लेइअ संग मोहि छाँड़िअ जनि ॥
बिनती बहुत करौं का स्वामी।
करुनामय उर-अंतर-जामी ॥

राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत जानिअहि प्रान।
दीनबन्धु संुदर सुखद सील-सनेह-निधान ॥

मोहि मग चलत न होइहि हारी।
छिनु छिनु चरनसरोज निहारी॥
सबहि भाँति पिय-सेवा करिहौं।
मारगजनित सकल स्रम हरिहौं॥
पाय पखारि बैठि तरुछाहीं।
करिहौं बाउ मुदित मन माहीं॥
स्रम-कन-सहित स्याम तनु देखें।
कहँ दुख समउ प्रानपति पेखें॥
सम महि तृन-तरु-पल्लव डासी।
पाय पलोटिहि सब निसि दासी॥
बार बार मृदु मूरति जोही।
लागिहि तात बयारि न मोही॥
को प्रभुसँग मोहि चितवनिहारा।
सिंघबधुहि जिमि ससक सिआरा॥
मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू।
तुम्हहिं उचित तप मो कहँ भोगू॥
ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदय बिलगान॥
तौ प्रभु-बिषम-बियोग-दुखु सहिहहिं पाँवर प्रान॥

भरत-कौशल्या-संवाद

भरतहिं देखि मातु उठि धाई।
मुरुछित अवनि परी झइँ आई॥
देखत भरतु बिकल भए भारी।
परे चरन तनदसा बिसारी॥

मातु तात कहँ देहि देखाई ।
कहँ सिय रामु लषनु दोउ भाई ॥
कइकइ कत जनमी जग मांझा ।
जौं जनमित भइ काहे न बांझा ॥
कुलकलंकु जेहि जनमेउ मोही ।
अपजसभाजन प्रिय-जन-द्रोही ॥
को त्रिभुवन मोहि सरिस अभागी ।
गति असि तोरि मातु जेहि लागी ॥
पितु सुरपुर, बन रघु-बर-केतू ।
मैं केवल सब अनरथहेतू ॥
धिग मोहि भयेउँ बेनु-बन-आगी ।
दुसह-दाह-दुख-दूषन-भागी ॥

मातु भरत के बचन मृदु सुनि पुनि उठी सँभारि ।
लिये उठाइ लगाइ उर लोचन मोचति बारि ॥

सरल सुभाय माय हिय लाए ।
अतिहित मनहुँ राम फिरि आए ॥
भेंटेउ बहुरि लषन-लघु-भाई ।
सोकु सनेहु न हृदय समाई ॥
देखि सुभाउ कहत सब कोई ।
राममातु अस काहे न होई ॥
माता भरतु गोद बैठारे ।
आंसु पोंछि मृदु बचन उचारे ॥

अजहुँ बच्छु, बलि, धीरज धरहू।
कुसमउ समुझि सोक परिहरहू॥
जनि मानहु हिय हानि गलानी।
काल·करम·गति अघटित जानी।
काहुहि दोस देहु जनि ताता।
भा मोहि सब बिधि बाम बिधाता॥
जो एतेहु दुख मोहि जिआवा।
अजहुँ को जानै का तेहि भावा॥

पितुआयसु भूषन बसन तात तजे रघुबीर।
बिसमउ हरष न हृदय कछु पहिरे बलकल चीर॥

मुख प्रसन्न मन रंग न रोषू।
सब कर सब बिधि करि परितोषू॥
चले बिपिन सुनि सिय सँग लागी।
रहै न राम·चरन·अनुरागी॥
सुनतहि लषनु चले उठि साथा।
रहहिं न जतन किए रघुनाथा॥
तब रघुपति सबही सिरु नाई।
चले संग सिय अरु लघु भाई॥
रामु लषनु सिय बनहिं सिधाए।
गइउँ न संग न प्रान पठाए॥
एहु सबु भा इन्ह आँखिन्ह आगे।
तउ न तजा तनु जीव अभागे॥

मोहि न लाज निज नेहु निहारी।
रामसरिस सुत मैं महतारी॥
जिअइ मरइ भल भूपति जाना।
मोर हृदय सत-कुलिस-समाना॥

कौसल्या के वचन सुनि भरतसहित रनिवासु।
व्याकुल विलपत राजगृह मानहुँ सोकनिवासु॥

विलपहिं विकल भरत दोउ भाई।
कौसल्या लिए हृदय लगाई॥
भाँति अनेक भरतु समुझाए।
कहि विवेकमय वचन सुनाए॥
भरतहु मातु सकल समुझाई।
कहि पुरान श्रुति कथा सुहाई॥
छलविहीन सुचि सरल सुबानी।
बोले भरत जोरि जुग पानी॥
जे अघ मातु-पिता-सुत मारें।
गाइगोठ महि-सुर-पुर जारें॥
जे अघ तिय-बालक-बध कीन्हे।
मीत महीपति माहुर दीन्हे॥
जे पातक उपपातक अहहीं।
करम-वचन-मन-भव कवि कहहीं॥
ते पातक मोहि होहु विधाता।
जौं एहु होइ मोर मत माता॥

जे परिहरि हरि·हर·चरन भजहिं भूतगन घोर।
तेहि कै गति मोहि देउ बिधि जौं जननी मत मोर॥

बेचहिं बेदु धरम दुहि लेहीं।
पिसुन पराय पाप कहि देहीं॥
कपटी कुटिल कलहप्रिय क्रोधी।
बेदबिदूषक बिस्वबिरोधी॥
लोभी लंपट लोलुपचारा।
जे ताकहिं परधनु परदारा॥
पावौं मैं तिन्ह कै गति घोरा।
जौं जननी एहु संमत मोरा॥
जे नहिं साधुसंग अनुरागे।
परमारथपथ बिमुख अभागे॥
जे न भजहिं हरि नरतनु पाई।
जिन्हहिं न हरि·हर·सुजसु सुहाई॥
तजि श्रुतिपंथ बामपथ चलहीं।
बंचक बिरचि बेपु जगु छलहीं॥
तिन्ह कै गति मोहि संकर देऊ।
जननी जौं एहु जानौं भेऊ॥

मातु भरत के बचन सुनि सांचे सरल सुभाय।
कहति रामप्रिय तात तुम्ह सदा बचन मन काय॥

राम प्रान ते प्रान तुम्हारे।
तुम्ह रघुपतिहिं प्रान तें प्यारे॥

बिधु बिष चवै स्रवै हिमु आगी।
होइ बारिचर बारिबिरागी ॥
भए ज्ञान बरु मिटै न मोहू।
तुम्ह रामहिं प्रतिकूल न होहू॥
मत तुम्हार एहु जो जग कहहीं।
सो सपनेहुँ सुखु सुगति न लहहीं॥
अस कहि मातु भरतु हिय लाए।
थनपय स्रवहिं नयन जल छाए॥

वसिष्ठ, माता कौशल्या तथा मंत्रीवर्ग का भरत से राज्य-ग्रहण करने के लिये अनुरोध और उनका इन्कार

सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ॥
अस बिचारि केहि देइअ दोषू।
ब्यरथ काहि पर कीजिअ रोषू॥
तात बिचारु करहु मन माहीं।
सोचुजोगु दसरथु नृपु नाहीं॥
सोचिअ बिप्र जो बेदबिहीना।
तजि निज धरमु बिषय-लवलीना॥
सोचिअ नृपति जो नीति न जाना।
जेहि न प्रजा प्रिय प्रानसमाना॥

सोचिअ बयसु कृपन धनवानू।
जो न अतिथि सिवभगति सुजानू॥
सोचिअ सूद्र बिप्र-अवमानी।
मुखरु मानप्रिय ग्यान गुमानी॥
सोचिअ पुनि पतिबंचक नारी।
कुटिल कलहप्रिय इच्छाचारी॥
सोचिअ बटु निज ब्रतु परिहरई।
जो नहिं गुर आयसु अनुसरई॥

सोचिअ गृही जो मोहबस करै करमपथ त्याग।
सोचिअ जती प्रपंचरत बिगत बिबेक बिराग॥

बैषानस सोइ सोचन जोगू।
तपु बिहाइ जेहि भावै भोगू॥
सोचिय पिसुन अकारन क्रोधी।
जननि-जनक-गुरु-बंधु-बिरोधी॥
सब बिधि सोचिअ पर-अपकारी।
निज तनुपोषक निरदय भारी॥
सोचनीय सबही बिधि सोई।
जो न छाँड़ि छलु हरिजन होई॥
सोचनीय नहिं कोसलराऊ।
भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ॥
भयेउ, न अहै, न अब होनिहारा।
भूप भरत जस पिता तुम्हारा॥

बिधि हरि हर सुरपति दिसि नाथा।
बरनहिं सब दसरथ-गुन-गाथा॥

कहहु तात केहि भाँति कोउ करहि बड़ाई तासु।
राम लषन तुम सत्रुहन सरिस सुअन सुचि जासु॥

सब प्रकार भूपति बड़भागी।
बादि बिषादु करिअ तेहि लागी॥
एहु सुनि समुझि सोचु परिहरहू।
सिर धरि राजरजायसु करहू॥
राय राजपदु तुम्ह कहुँ दीन्हा।
पितावचनु फुर चाहिअ कीन्हा॥
तजे रामु जेहि बचनहिं लागी।
तनु परिहरेउ रामबिरहागी॥
नृपहि बचन प्रिय, नहिं प्रिय प्राना।
करहु तात पितु बचन प्रवाना॥
करहु सीस धरि भूपरजाई।
है तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई॥
परसुराम पितुअग्याँ राखी।
मारी मातु, लोग सब साखी॥
तनय जजातिहि जौबनु दयेऊ।
पितुअग्या अघ अजसु न भयेऊ॥

अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितुबयन।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति-अयन॥

अवसि नरेस-बचन फुर करहू।
पालहु प्रजा, सोक परिहरहू॥
सुरपुर नृपु पाइहि परितोषू।
तुम्ह कहुँ सुकृतु सुजसु, नहिं दोषू॥
बेदबिदित संमत सबही का।
जेहि पितु देइ सो पावै टीका॥
करहु राजु परिहरहु गलानी।
मानहु मोर बचन हित जानी॥
सुनि सुखु लहब राम-बैदेही।
अनुचित कहब न पंडित केही॥
कौसल्यादि सकल महतारी।
तेउ प्रजासुख होहिं सुखारी॥
मरम तुम्हार राम कर जानिहि।
सो सब बिधि तुम्ह सन भल मानिहि॥
सौंपेहु राजु राम के आएँ।
सेवा करेहु सनेह सुहाएँ॥

कीजिअ गुर-आयसु अवसि कहहिं सचिव कर जोरि।
रघुपति आएँ उचित जस तस तब करब बहोरि॥

कौसल्या धरि धीरजु कहई।
पूत पथ्य गुरु-आयसु अहई॥
सो आदरिअ करिअ हित मानी।
तजिअ बिषादु कालगति जानी॥

बन रघुपति, सुरपुर नरनाहू।
तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू॥
परिजन प्रजा सचिव सब अंबा।
तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा॥
लखि बिधि बाम कालु कठिनाई।
धीरजु धरहु मातु बलि जाई॥
सिर धरि गुरु आयसु अनुसरहू।
प्रजा पालि परि-जन-दुख हरहू॥
गुरु के बचन सचिव अभिनंदनु।
सुने भरत हिय हित जनु चंदनु॥
सुनी बहोरि मातु मृदुबानी।
सील-सनेह-सरल-रस-सानी॥

सानी सरल रस मातुबानी सुनि भरतु ब्याकुल भए।
लोचनसरोरुह श्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नए॥
सो दसा देखत समय तेहि बिसरी सबहि सुधि देह की।
तुलसी सराहत सकल सादर सींव सहज सनेह की॥

भरत कमलकर जोरि धीर-धुरंधर धीर धरि।
बचनु अमिअ जनु बोरि देत उचित उत्तर सबहिं॥

मोहि उपदेसु दीन्ह गुर नीका।
प्रजा सचिव संमत सबही का॥
मातु उचित धरि आयसु दीन्हा।
अवसि सीस धरि चाहौं कीन्हा॥

गुरु·पितु·मातु·स्वामि·हित·बानी ।
सुनि मन मुदित करिश्र भलि जानी ॥
उचित कि अनुचित किए बिचारू ।
धरमु जाइ सिर पातक भारू ॥
तुम्ह तौ देउ सरल सिख सोई ।
जो आचरत मोर भल होई ॥
जद्यपि एह समुझत हौं नीके ।
तदपि होत परितोषु न जी के ॥
अब तुम्ह बिनय मोरि सुनि लेहू ।
मोहि अनुहरत सिखावनु देहू ॥
उत्तर देउँ छमब अपराधू ।
दुखित·दोष·गुन गनहिं न साधू ॥

पितु सुरपुर, सिय·राम बन, करन कहहु मोहि राजु ।
एहि ते जानहु मोर हित, कै आपन बड़ काजु ॥

हित हमार सिय·पति·सेवकाई ।
सो हरि लीन्हि मातु·कुटिलाई ॥
मैं अनुमानि दीख मन माहीं ।
आन उपाय मोर हित नाहीं ॥
सोकसमाजु राजु केहि लेखे ।
लषन·राम·सिय पद बिनु देखे ॥
बादि बसन बिनु भूषण·भारू ।
बादि बिरति बिनु ब्रह्मबिचारू ॥

सरुज सरीर बादि बहु भोगा।
बिनु हरिभगति जाय जप जोगा॥
जायँ जीव बिनु देह सुहाई।
बादि मोर सबु बिनु रघुराई॥
जाउँ राम पहिं आयसु देहू।
एकहि आँक मोर हित एहू॥
मोहि नृपु करि भल आपन चहहू।
सोउ सनेह जड़ताबस कहहू॥

कैकेइसुअन कुटिल मति रामबिमुख गतलाज।
तुम्ह चाहत सुखु मोहबस मोहि से अधमु के राज॥

कहौं साँच सब सुनि पतियाहू।
चाहिअ धरमसील नरनाहू॥
मोहि राजु हठि देइहहु जबहीं।
रसा रसातल जाइहि तबहीं॥
मोहि समान को पापनिवासू।
जेहि लगि सीय राम बनबासू॥
राय राम कहुँ कानन दीन्हा।
बिछुरत गमनु अमरपुर कीन्हा॥
मैं सठ सब अनरथ कर हेतू।
बैठ बात सब सुनौं सचेतू॥
बिनु रघुबीर बिलोकिय बासू।
रहे प्रान सहि जग उपहासू॥

राम पुनीत बिषयरस रूखे।
लोलप भूमि भोग के भूखे॥
कहँ लगि कहौं हृदय-कठिनाई।
निदरि कुलिसु जेहि लही बड़ाई॥

कारन तें कारजु कठिन होइ दोसु नहिं मोर।
कुलिस अस्थि तें उपल तें लोह कराल कठोर॥

कैकेईभव तनु अनुरागे।
पावँर प्रान अघाइ अभागे॥
जौं प्रियबिरह प्रान प्रिय लागे।
देखब सुनब बहुत अब आगे॥
लषन-राम-सिय कहुँ बनु दीन्हा।
पठै अमरपुर पतिहित कीन्हा॥
लीन्ह बिधवपन अपजसु आपू।
दीन्हेउ प्रजहिं सोकु सतापू॥
मोहि दीन्ह सुख सुजसु सुराजू।
कीन्ह कैकेई सब कर काजू॥
एहि तें मोर काह अब नीका।
तेहि पर देन कहहु तुम्ह टीका॥
कैकेइजठर जनमि जग माहीं।
यह मोहि कहँ कछु अनुचित नाहीं॥
मोरि बात सब बिधिहि बनाई।
प्रजा पांच कत करहु सहाई॥

ग्रहग्रहीत पुनि बातबस तेहि पुनि बीछी मार।
तेहि पिआइअ बारुनी कहहु कवन उपचार ॥

कैकइसुअन-जोग जग जोई।
चतुर बिरंचि दीन्ह मोहि सोई ॥
दसरथ-तनय राम-लघु भाई।
दीन्हि मोहि बिधि बादि बड़ाई ॥
तुम्ह सब कहहु कढ़ावन टीका।
रायरजायसु सब कहँ नीका ॥
उतरु देउँ केहि बिधि केहि केही।
कहहु सुखेन जथा रुचि जेही ॥
मोहि कुमातु-समेत बिहाई।
कहहु कहिहि के कीन्हि भलाई ॥
मो बिनु को सचराचर माहीं।
जेहि सियरामु प्रानप्रिय नाहीं ॥
परम हानि सबु कहँ बड़ लाहू।
अदिन मोर नहि दूषन काहू ॥
संसय सील प्रेमबस अहहूं।
सबुइ उचित सबु जो कछु कहहू ॥

राममातु सुठि सरलचित मोपर प्रेम बिसेखि।
कहै सुभाय सनेहबस मोरि दीनता देखि॥

गुर बिबेकसागर जग जाना।
जिन्हहिं बिस्व कर-बदर-समाना ॥

मो कहुँ तिलकसाज सज सोऊ।
भए विधि-विमुख विमुख सब कोऊ॥
परिहरि रामुसीय जग माहीं।
कोउ न कहिहि मोह मत नाहीं॥
सो मैं सुनब सहब सुख मानी।
अंतहु कीच तहाँ जहँ पानी॥
डर न मोहि जग कहिहि कि पोचू।
परलोकहु कर नाहिन सोचू॥
एकै उर बस दुसह दवारी।
मोहि लगि भे सियराम दुखारी॥
जीवनलाहु लषन भल पावा।
सबु तजि रामचरनु मन लावा॥
मोर जनम रघुवर बनलागी।
झूठ काह पछिताउँ अभागी॥

आपन दारुन दीनता कहौं सबहिं सिर नाइ।
देखे बिनु रघु-नाथ-पद जिय कै जरनि न जाइ॥

आन उपाउ मोहि नहिं सूझा।
को जिय कै रघुबर बिनु बूझा॥
एकहि आंक इहै मन माहीं।
प्रातकाल चलिहौं प्रभु पाहीं॥
जद्यपि मैं अनभल अपराधी।
भइ मोहि कारन सकल उपाधी॥

तदपि सरन सनमुख मोहि देखी।
छमि सब करिहहिं कृपा बिसेखी॥
सील सकुचि सुठि सरल सुभाऊ।
कृपा-सनेह-सदन रघुराऊ॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा।
मैं सिसु सेवकु जद्यपि बामा॥
तुम्ह पै पांच मोर भल मानी।
आयसु आसिष देहु सुबानी॥
जेहि सुनि बिनय मोहि जनु जानी।
आवहिं बहुरि राम रजधानी॥

जद्यपि जनमु कुमातु तें मैं सठ सदा सदोस।
आपन जानि न त्यागिहहिं मोहि रघुबीर भरोस॥

अनसूया का उपदेश

कह रिषिबधू सरल मृदु बानी।
नारि धर्म कछु ब्याज बखानी॥
मातु पिता भ्राता हितकारी।
मित सुखप्रद सुनु राजकुमारी॥
अमित दानि भर्ता बैदेही।
अधम सो नारि जो सेव न तेही॥
धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
आपद काल परिखियहि चारी॥

वृद्ध रोगबस जड़ धनहीना।
अन्ध बधिर क्रोधी अतिदीना॥
ऐसेहु पतिकर किय अपमाना।
नारि पाव यमपुर दुख नाना॥
एकइ धर्म एक व्रत नेमा।
काय वचन मन पति-पद-प्रेमा॥
जग पतिव्रता चारि विधि अहहीं।
वेद पुराण सन्त अस कहहीं॥

उत्तम मध्यम नीच लघु सकल कहौं समुझाइ।
आगे सुनहिं ते भव तरहिं सुनहु सीय चित लाइ॥

उत्तम के अस बस मन माहीं।
सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखहि कैसे।
भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥
धर्म विचारि समुझि कुल रहई।
सो निकृष्ट तिय श्रुति अस कहई॥
विनु अवसर भय तें रह जोई।
जानेहु अधम नारि जग सोई॥
पतिवञ्चक पर-पति-रति करई।
रौरव नरक कल्प सत परई॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी।
दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥

बिनु स्रम नारि परम गति लहई।
पतिब्रत धर्म छांड़ि छल गहई॥
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई।
बिधवा होय पाय तरुणाई॥

सहज अपावनि नारि, पति सेवत शुभ गति लहहिं।
यश गावत श्रुति चारि, अजहूँ तुलसी हरिहिं प्रिय॥
सुनु सीता तव नाम, सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।
तोहिं प्राणप्रिय राम, कहेउँ कथा संसार हित॥

शरद्-ऋतु-वर्णन

बरषा बिगत सरद रितु आई।
लछिमन देखहु परम सुहाई॥
फूले कास सकल महि छाई।
जनु बरषाकृत प्रगट बुढ़ाई॥
उदित अगस्त पंथजल सोषा।
जिमि लोभहि सोषै सन्तोषा॥
सरिता-सर जल निर्मल सोहा।
संतहृदय जस गत-मद-मोहा॥
रस रस सोष सरित-सर-पानी।
ममता त्याग करहिं जिमि ग्यानी॥
जानि सरद रितु खंजन आए।
पाय समय जिमि सुकृत सुहाए॥

पंक न रेनु सोह अस धरनी।
नीति निपुण नृप की जस करनी॥
जलसंकोच विकल भई मीना।
अबुध कुटुंबी जिमि धनहीना॥
बिनु घन निर्मल सोह अकासा।
जिमि हरिजन परिहरि सब आसा॥
कहुँ कहु वृष्टि सारदी थोरी।
कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी॥

चले हरषि तजि नगर नृप तापस बणिक भिखारि।
जिमि हरिभगति पाइ जन तजहिं आश्रमी चारि॥

सुखी मीनगण नीर अगाधा।
जिमि हरिसरन न एकौ बाधा॥
फूले कमल सोह सर कैसे।
निर्गुण ब्रह्म सगुन भए जैसे॥
गुंजत मधुकर निकर अनूपा।
सुन्दर खगरव नाना रूपा॥
चक्रवाक मन दुख निसि पेखी।
जिमि दुर्जन पर-संपति देखी॥
चातक रटत तृषा अति ओही।
जिमि सुख लहै न संकरद्रोही॥
सरदातप निसि ससि अपहरई।
संतदरस जिमि पातक टरई॥

देखि इंदु चकोरसमुदाई।
चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई॥
मसकदंस बीते हिमत्रासा।
जिमि द्विज द्रोह किये कुलनासा॥

भूमि जीव-संकुल रहे गए सरद रितु पाइ।
सद्गुरु मिलें ते जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ॥

विभीषण-रावण-संवाद

जौ कृपाल पूँछेहु मोहिं बाता।
मति अनुरूप कहौं हित ताता॥
जो आपन चाहै कल्याना।
सुजसु सुमति सुभगति सुख नाना॥
चौदह भुवन एक पति होई।
भूतद्रोह तिष्ठै नहिं सोई॥
गुनसागर नागर नर जोऊ।
अलप लोभ भल कहै न कोऊ॥

काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरही भजहु भजहिं जेहि संत॥

तात रामु नहिं नर भूपाला।
भुवनेश्वर कालहुँ कर काला॥
ब्रह्म अनामय अज भगवंता।
व्यापक अजित अनादि अनंता॥

गो·द्विज·धेनु·देव हितकारी।
कृपासिंधु मानुष·तनु·धारी ॥
जनरंजन भंजन खलव्राता।
बेद·धर्म·रच्छक सुनु भ्राता ॥
ताहि बयरु तजि नाइअ माथा।
प्रनतारति·भंजन रघुनाथा ॥
देहु नाथ प्रभु कहुँ बैदेही।
भजहु राम बिनु हेतु सनेही ॥
सरन गए प्रभु ताहु न त्यागा।
बिस्व·द्रोह·कृत अघ जेहि लागा ॥
जासु नाम त्रय·ताप·नसावन।
सोइ प्रभु प्रगट समुझु जिय रावन ॥

बार बार पद लागौं बिनय करौं दससीस।
परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस ॥
मुनि पुलस्ति निज शिष्य सन कहि पठई यह बात।
तुरत सो मैं प्रभु सन कहि पाई सुअवसरु तात ॥

माल्यवंत अति सचिव सयाना।
तासु बचन सुनि अति सुख माना ॥
तातु अनुज तव नीतिबिभूषन।
सोइ उर धरहु जो कहत बिभीषन ॥
रिपु·उतकरष कहत सठ दोऊ।
दूरि न करहु इहाँ हइ कोऊ ॥

माल्यवंत गृह गयेउ बहोरी।
कहै बिभीषनु पुनि कर जोरी॥
सुमति कुमति सबके उर रहहीं।
नाथ पुरान निगम अस कहहीं॥
जहां सुमति तहँ संपति नाना।
जहां कुमति तहँ बिपति निदाना॥
तव उर कुमति बसी बिपरीती।
हित अनहित मानहु रिपु प्रीती॥
कालराति निसिचर-कुल केरी।
तेहि सीता पर प्रीति घनेरी॥

तात चरन गहि मांगौं राखहु मोर दुलार।
सीता देहु राम कहुँ अहित न होइ तुम्हार॥

बुध-पुरान-श्रुति-संमत बानी।
कही बिभीषन नीति बखानी॥
सुनत दसानन उठा रिसाई।
खल तोहि निकट मृत्यु अब आई॥
जियसि सदा सठ मोर जिआवा।
रिपु कर पच्छ मूढ़ तोहि भावा॥
कहसि न खल अस को जग माहीं।
भुजबल जेहि जीता मैं नाहीं॥
मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती।
सठ मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती॥

अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा।
अनुज गहे पद बारहिं बारा॥
उमा संत कै इहै बड़ाई।
मंद करत जो करै भलाई॥

लक्ष्मण की मूर्छा पर राम का विषाद

उहाँ राम लछिमनहिं निहारी।
बोले बचन मनुजअनुहारी॥
अर्धरात्रि गइ कपि नहिं आवा।
राम उठाइ अनुज उर लावा॥
सकहु न दुखित देखि मोहिं काऊ।
बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ॥
मम हित लागि तजेहु पितु माता।
सहेउ बिपिन हिम आतप बाता॥
सो अनुराग कहाँ अब भाई।
उठहु न सुनि मम बचबिकलाई॥
जौं जनत्यों बन बंधुबिछोहू।
पिता बचन मनत्यों नहिं ओहू॥
सुत बित नारि भवन परिवारा।
होहिं जाहिं जग बारहिं बारा॥
अस बिचारि जिय जागहु ताता।
मिलै न जगत सहोदर भ्राता॥

जथा पंख बिनु खग अति दीना ।
मनि बिनु फनि करिबर करहीना ।
अस मम जिवन बंधु बिनु तोही ।
जौं जड़ दैव जियावै मोही ॥
जैहौं अवध कवन मुँह लाई ।
नारि हेतु प्रिय भाइ गवाँई ॥
बरु अपजसु सहत्यों जग माहीं ।
नारि हानि बिसेष छति नाहीं ॥
अब अपलोकु सोकु सुत तोरा ।
सहिहि निठुर कठोर उर मोरा ॥
निज जननी के एक कुमारा ।
तात तासु तुम्ह प्रानअधारा ॥
सौंपेसि मोहि तुम्हहिं गहि पानी ।
सब बिधि सुखद परम हित जानी ॥
उतरु काह दैहौं तेहि जाई ।
उठि किन मोहि सिखावहु भाई ॥
बहु बिधि सोचत सोचबिमोचन ।
स्रवत सलिल राजिव-दल-लोचन ॥
उमा एक अखंड रघुराई ।
नरगति भगतकृपालु देखाई ॥

प्रभु बिलाप सुनि कान बिकल भए बानरनिकर ।
आइ गयेउ हनुमान जिमि करुना महुँ बीर रस ॥

केवट की प्रार्थना

जिनको पुनीत वारि धारें सिर पै पुरारि,
त्रिपथगामिनि-जसु वेद कहै गाइकै।
जिनको जोगींद्र मुनिवृंद देव देह भरि,
करत विराग जप जोग मन लाइकै॥
तुलसी जिनकी धूरि परसि अहल्या तरी,
गौतम सिधारे गृह गौनो सो लिवाइकै।
तेई पायँ पाइकै चढ़ाइ नाव धोए बिनु,
ख्वैहौं न पठावनी कै ह्वैहौं न हँसाइकै॥

शबरी से भेंट (अछूतोद्धार)

सबरी सोइ उठी, फरकत बाम बिलोचन बाहु।
सगुन सुहावने सूचत मुनि-मन-अगम उछाहु॥
मुनि-अगम उर आनंद, लोचन सजल, तनु पुलकावली।
तृन-पर्नसाल बनाइ, जल भरि कलस, फल चाहन चली॥
मंजुल मनोरथ करति, सुमिरति बिप्र-बरबानी भली।
ज्यों कलप-बेलि सकेलि सुकृत सुफूल-फूली सुख-फली॥१॥

प्रानप्रिय पाहुने ऐहैं राम लषन मेरे आजु।
जानत जन-जिय की मृदु चित राम गरीबनिवाजु॥
मृदु चित गरीबनिवाज आजु बिराजि हैं गृह आइकै।
ब्रह्मादि संकर गौरि पूजित पूजिहौं अब जाइकै॥
लहि नाथ हौं रघुनाथ-बानो पतितपावन पाइकै।
दुहुँ ओर लाहु अघाइ तुलसी तीसरेहु गुन गाइकै॥२॥

दोना रुचिर रचे पूरन कंद मूल फल फूल।
अनुपम अमियहु तें अंबक अवलोकत अनुकूल॥
अनुकूल अंबक अंब ज्यों निज डिंभ हित सब आनिकै।
सुंदर सनेह सुधा सहस जनु सरस राखे सानिकै॥
छन भवन, छन बाहर बिलोकति पंथ भू पर पानिकै।
दोउ भाइ आये शवरिका के प्रेम-पन पहचानिकै॥३॥

स्रवन सुनत चली आवत देखि लषन रघुराउ।
सिथिल सनेह कहै, 'है सपना बिधि कैधों सति भाउ'॥
सति भाउ कै सपनो? निहारि कुमार कोसलराय के।
गहे चरन जे अघहरन नत-जन-बचन-मानस-काय के॥
लघु-भाग-भाजन उदधि उमग्यो लाभ सुख चित चाय कै।
सो जननि ज्यों आदरी सानुज, राम भूखे भाय के॥४॥

प्रेम पट पांवड़े देत सुअरघ बिलोचन-बारि।
आस्रम लै दिए आसन पंकज-पांय पखारि॥
पद-पंकजात पखारि पूजे पंथ-स्रम-बिरहित भये।
फल फूल अंकुर मूल धरे सुधारि भरि दोना नये॥
प्रभु खात पुलकित गात, स्वाद सराहि आदर जनु जये।
फल चारिहू फल चारि दहि परचारि फल सबरी दये॥५॥

सुमन बरषि हरषे सुर, मुनि मुदित सराहि सिहात।
केहि रुचि केहि छुधा सानुज मांगि मांगि प्रभु खात॥
प्रभु खात मांगत, देति सबरी राम भोगी जाग के।
पुलकत प्रसंसत सिद्ध सिव सनकादि भाजन-भाग के॥

बालक सुमित्रा कौसिला के पाहुने फल साग के।
सुनु समुझि तुलसी जानु रामहिं बस अमल अनुराग के ॥६॥

रघुबर अँचइ उठे सबरी करि प्रनाम करि जोरि।
हौं बलि बलि गई पुरई मंजु मनोरथ मोरि॥
पुरई मनोरथ स्वारथहु परमारथहु पूरन करी।
अघ अवगुनन्हि की कोठरी करि कृपा मुद-मंगल भरी॥
तापस किरातिनि कोल मृदु मूरति मनोहर मन धरी।
सिर नाइ आयसु पाइ गवने परमनिधि पाले परी ॥७॥

सिय-सुधि सब कही नख सिख निरखि निरखि दोउ भाइ।
दै दै प्रदच्छिना करति प्रनाम न प्रेम अघाइ॥
अतिप्रीति मानस राखि रामहि, राम-धामहिं सो गई।
तेहि मातु ज्यों रघुनाथ अपने हाथ जलअंजलि दई॥
तुलसी-भनित सबरी-प्रनति, रघुबर प्रकृति करुनामई।
गावत, सुनत, समुझत भगति हिय होय प्रभुपद नित नई ॥८॥

हनुमान् की कार्यतत्परता

जो हौं अब अनुसासन पावों।
तौ चंद्रमहिं निचोरि चैल ज्यों आनि सुधा सिर नावों॥
कै पाताल दलों ब्यालावलि अमृत-कुंड महि लावों।
भेदि भुवन करि भानु बाहिरो तुरत राहु दै तावों॥
बिबुध-बैद बरबस आनों धरि तौ प्रभु अनुग कहावों।
पटकों मीच नीच मूषक ज्यों सबहि को पापु बहावों॥
तुम्हरिहि कृपा प्रताप तिहारेहि नेकु बिलंब न लावों।
दीजै सोइ आयसु तुलसी प्रभु जेहि तुम्हरे मन भावों॥

सुमित्रा का त्याग

सुनि रन घायल लषन परे हैं।
स्वामि-काज संग्राम सुभट सों लोहे ललकारि लरे हैं॥
सुवन-सोक संतोष सुमित्रहि रघुपति-भगति बरे हैं।
छिन छिन गात सुखात छिनहि छिन हुलसत होत हरे हैं॥
कपि सों कहति सुभाय अंब के अंबक अंबु भरे हैं।
रघुनंदन बिनु बंधु कुअवसर जद्यपि धनु दुसरे हैं॥
'तात ! जाहु कपि सँग' रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधिबस सुढर ढरे हैं॥
अंब-अनुज-गति लखि पवनज भरतादि गलानि गरे हैं।
तुलसी सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं॥

विनय

(१)

माधव ! मो समान जग माहीं।
सब बिधि हीन, मलीन दीन ! अति लीन-बिषय कोउ नाहीं॥
तुम सम हेतु रहित, कृपालु ! केहि कारन दया न लागी ?
नाहिन कछु अवगुन तुम्हार, अपराध मोर मैं माना।
ज्ञान भवन तनु दिएहु, नाथ ! सोउ पाय न मैं प्रभु जाना॥
बेनु करील, श्रीखंड बसंतहि दूषन मृषा लगावै।
सार-रहित, हतभाग्य सुरभि पल्लव सो कहु कहँ पावै॥
सब प्रकार मैं कठिन, मृदुल हरि, दृढ़ बिचार जिय मोरे।
तुलसिदास प्रभु मोह-शृंखला छुटिहि तुम्हारे छोरे॥

(२)

हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों।
साधन-धाम विबुध-दुर्लभ तनु मोहि कृपा करि दीन्हों ॥
कोटिहुँ मुख कहि जायँ न प्रभु के एक एक उपकार।
तदपि नाथ कछु और माँगिहौं दीजै परम उदार ॥
विषय-बारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।
तातें सहिय विपति अतिदारुन जनमत जोनि अनेक ॥
कृपा-डोरि, बंसी-पद-अंकुस, परम प्रेम-मृदु-चारो।
हिय बिधि बेधि हरहु मेरो दुख, कौतुक राम तिहारो ॥
हैं स्रुति-विदित उपाय सकल,सुर केहि केहि दीन निहारै ?
तुलसिदास यहि जीव मोह-रजु जोइ बांध्यो सोइ छोरै ॥

शरणागत की रक्षा की चिन्ता

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
विपति-बँटावन बंधु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको ?
सुन सुग्रीव ! सांचहू मो सन फेर्‌यो बदन विधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यो लषन सो भ्राता ॥
गिरि कानन जैहैं साखा-मृग, हौं पुनि अनुज-सँघाती।
ह्वै है कहा विभीषन की गति,रही सोचि भरि छाती ॥

दोहे

राम-नाम-मनि-दीप धरु, जीह-देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरौ, जौ चाहसि उजियार ॥१॥

राम नाम अवलंब बिनु, परमारथ की आस।
बरषत बारिद-बूँद गहि, चाहत चढ़न अकास ॥२॥
रे मन ! सब सों निरस ह्वै, सरस राम सों होहि।
भलो सिखावन देत है, निसि दिन तुलसी तोहि ॥३॥
ज्यों जग बैरी मीन को, आपु सहित, बिनु बारि।
त्यों तुलसी रघुबीर बिनु, गति आपनी बिचारि ॥४॥
जे जन रूखे बिषयरस, चिकने रामसनेह।
तुलसी ते प्रिय राम को, कानन बसहिं कि गेह ॥५॥
तुलसी श्री रघुवीर तजि, करै भरोसो और।
सुख संपति की का चली, नरकहु नाहीं ठौर ॥६॥
बिंध न ईंधन पाइए, सायर जुरै न नीर।
परै उपास कुबेरघर, जो बिपच्छ रघबीर ॥७॥
वरषा को गोबर भयो, को चहै, को करै प्रीति ?।
तुलसी तू अनुभवहि अब, रामबिमुख की रीति ॥८॥
तुलसी ममता राम सों, समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख, दास भये भव पार ॥९॥
तुलसी राम कृपालु सों, कहि सुनाउ गुन दोष।
होय दूबरी दीनता, परम पीन संतोष ॥१०॥
तुलसी रामहु तें अधिक, रामभक्त जिय जान।
ऋनिया राजा राम भे, धनिक भए हनुमान ॥११॥
बिनु सतसंग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गए बिनु रामपद, होय न दृढ़ अनुराग ॥१२॥

बिनु बिस्वास भगति नहिं,तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
रामकृपा बिनु सपनेहुँ, जीव न लह बिश्राम ॥१३॥

पुन्य, पाप, जस, अजस के भावी भाजन भूरि।
संकट तुलसीदास को, राम करहिंगे दूरि ॥१४॥

सूधे मन, सूधे बचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल बिधि, रघुबर·प्रेम·प्रसूति ॥१५॥

रामचरित राकेस कर, सरिस सुखद सब काहु।
सज्जन·कुमुद चकोर चित,हित बिसेष बड़ लाहु ॥१६॥

ज्ञानी, तापस, सूर, कवि, कोविद गुनआगार।
केहि कै लोभ बिडंबना, कीन्हि न यहि संसार ॥१७॥

अवसर कौड़ी जो चुकै, बहुरि दिए का लाख?
दुइज न चंदा देखिबे, उदौ कहा भरि पाख ॥१८॥

तुलसी जग जीवन अहित, कतहुँ कोउ हित जानि।
सोषक भानु कृसानु महि, पवन एक घन दानि ॥१९॥

तुलसी अपनो आचरन, भलो न लागत कासु।
तेहि न बसात जो खात नित,लहसुनहू को बासु ॥२०॥

ग्रह, भेषज, जल, पवन, पट पाइ कुजोग सुजोग।
होइ कुबस्तु सुबस्तु जग, लखहिं सुलच्छन लोग ॥२१॥

तुलसी जे कीरति चहहिं, पर की कीरति खोइ।
तिनके मुँह मसि लागिहै,मिटिहि न मरिहैं धोइ ॥२२॥

परद्रोही, परदार·रत, परधन, पर·अपवाद।
ते नर पांवर पापमय, देह धरे मनुजाद ॥२३॥

सारदूल को स्वांग कर, कूकर की करतूति।
तुलसी तापर चाहिए, कीरति विजय विभूति ॥२४॥
जूझे ते भल बूझिबो, भली जीति तें हारि।
डहके ते डहकाइबो, भलो, करिय विचारि ॥२५॥
पेट न फूलत बिनु कहे, कहत न लागै ढेर।
सुमति बिचारे बोलिये, समुझि कुफेर सुफेर ॥२६॥
सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आपु।
विद्यमान रन पाय रिपु, कायर करहिं प्रलापु ॥२७॥
अनहित-भय परहित किये, पर-अनहित हितहानि।
तुलसी चारु विचार भल, करिय काज सुनि जानि ॥२८॥
तुलसी सो समरथ सुमति, सुकृती, साधु, सयान।
जो बिचारि व्यवहरइ जग, खरच लाभ अनुमान ॥२९॥
दीरघ रोगी, दारिदी, कटु बच, लोलुप लोग।
तुलसी प्रान समान तउ होहिं निरादर-जोग ॥३०॥
राज करत बिनु काजही, करैं कुचालि कुसाज।
तुलसी ते दसकंध ज्यों, जरहैं सहित समाज ॥३१॥
सत्रु सयानो सलिल ज्यों, राख सीस रिपुनाउ।
बूड़त लखि, पग डगत लखि, चपरि चहुं दिसि धाउ ॥३२॥
अनुचित उचित बिचार तजि, जे पालहिं पितु-बैन।
ते भाजन सुख सुजस के, बसहिं अमरपति-ऐन ॥३३॥
सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पांवर पापमय, तिनहिं बिलोकत हानि ॥३४॥

तुलसी तृनजल-कूल को निरधन, निपट निकाज।
कै राखै, कै संग चलै, बाँह गहे की लाज ॥३५॥
तुलसी पावस के समय, धरी कोकिलन मौन।
अब तौ दादुर बोलिहैं, हमें पूछिहै कौन? ॥३६॥
तुलसी सन्त सुअम्ब तरु, फूलि फरहिं पर-हेत।
इतते ये पाहन हनत, उतते वे फल देत ॥३७॥
सेइ साधु गुरु समुझि सिखि, राम-भगति थिरताइ।
लरिकाईं को पैरिबो, तुलसी बिसरि न जाइ ॥३८॥
दिये पीठि पाछे लगै, सनमुख होत पराय।
तुलसी संपति छाँह ज्यों, लखि दिन बैठि गँवाय ॥३९॥
नीच गुड़ी ज्यों जानिबो, सुनि लखि तुलसीदास।
ढीलि दिये गिरि परत महि, खैंचत चढ़त अकास ॥४०॥

रहीम

'रहीम' हिन्दी के मुसलमान कवियों में सर्वश्रेष्ठ कवि थे। उनका पूरा नाम अब्दुर्रहीम ख़ानख़ानां था। वे सम्राट् अकबर के अभिभावक बैरमखां के बेटे थे। उनका जन्म सं० १६१० में हुआ था। पिता की असामयिक मृत्यु हो जाने के कारण उनकी शिक्षा-दीक्षा सम्राट् अकबर की देख-रेख में हुई थी। अरबी, फ़ारसी, तुरकी की भाँति वे संस्कृत हिन्दी के भी बहुत अच्छे विद्वान थे। दरबार में उनका सभी आदर और सम्मान करते थे। अकबर के नवरत्नों में उनकी गणना होती थी। वे पहले कुछ देर तक सेनानायक रहे फिर प्रधान मन्त्री के पद पर प्रतिष्ठित हुए। उनकी उदारता और दानशीलता के सम्बन्ध में कई कथाएं प्रसिद्ध हैं। सुनते हैं कवि गंग के केवल दो छन्दों पर विमुग्ध

होकर उन्होंने ३६ लाख की हुण्डी अर्पित की थी। किन्तु इतने मुक्त-औदार्य के साथ भी आँखें सदा नीची रहती थीं। अभिमान छू नहीं पाया था। एक दिन इसी सम्बन्ध में 'गंग' उनसे पूछ बैठे थे—

सीखे कहां नवाब जू ऐसी देनी दैन।
ज्यों ज्यों कर ऊँचे करो त्यों त्यों नीचे नैन॥

ख़ानख़ानां ने उत्तर दिया—

देन हार कोउ और है भेजत सो दिन रैन।
लोग भरम हम पै धरैं यातैं नीचे नैन॥

कितना सुन्दर उत्तर है! कितनी नम्रता है! कितनी अभिमानहीनता है! मुसलमान होकर भी कृष्ण पर उनकी असीम भक्ति थी। उनके जीवन में हिन्दू-मुस्लिम दोनों संस्कृतियों का एक साथ सुन्दर सम्मिलन हुआ है। अकबर की मृत्यु के बाद जहाँगीर ने उन्हें राज-विद्रोह के अभियोग में कैद कर लिया था और उनकी सब सम्पत्ति भी छीन ली थी। कैद से छूट कर एक दरिद्र की भाँति वे चित्रकूट पर दिन बिताने लगे।

रहीम की कविता प्रायः मुक्तक कोटि की है। उसमें ज्ञान और नीति का कुशलतापूर्ण वर्णन हुआ है। इस ढंग की कविता करने वाले बिहारी, वृन्द और दो-एक और भी कवि हैं। बिहारी में कवित्व शक्ति पूर्ण है किन्तु शैली कुछ क्लिष्टता लिए हुए है। वृन्द के दोहे सीधे सादे अभिधा शक्तिमूलक हैं, उनके पढ़ने से बुद्धि को कुछ गति नहीं मिलती। किन्तु रहीम की कविता इन दोनों से एक विशेषता रखती है। उसमें कवित्व की सहचरी व्यञ्जना भी है और प्रसाद भी। उसे सब सहज में

समझ भी सकते हैं और साथ ही सिर भी धुन सकते हैं। यही कारण है उसका प्रचार क्षेत्र बहुत व्यापक है।

रहीम ने जितना फारसी में लिखा है उससे अधिक हिन्दी में। हिन्दी में उनकी खड़ीबोली की भी रचना मिलती है और बहुत सुन्दर। मदनाष्टक उनकी एक पुस्तक ठेठ खड़ीबोली की रचना है। उन्होंने संस्कृत, हिन्दी, फारसी तीनों को एक साथ जोड़ कर भी खड़ीबोली में कविता की है, जो मनोरञ्जन की बहुत सुन्दर सामग्री है।

रहीम की भाषा अवधी है। नीति और ज्ञान के अतिरिक्त भक्ति, धर्म और शृंगार रस पर भी उनकी कविता मिलती हैं। उनकी नीचे लिखी पुस्तकें बहुत प्रसिद्ध हैं—

बरवै-नायिका-भेद।
मदनाष्टक।
रासपंचाध्यायी—अप्राप्य
शृंगारसोरठा।
रहीम-सतसई—केवल २६९ दोहे उपलब्ध है।
खेटकौतुकजातकम्—ज्योतिष शास्त्र सम्बन्धी एक संस्कृत भाषा की रचना।

तुलसीदास जी से भी वे पूर्ण परिचित थे, केवल परिचित ही नहीं, अपितु उनके पूर्ण भक्त भी थे। वे ७२ वर्ष तक इस लोक में रहे और सं० १६८२ में स्वर्गधाम सिधारे।

दोहे

समय दसा कुल देखि कै, लोग करत सनमान।
'रहिमन' दीन अनाथ को, तुम बिन को भगवान ॥१॥
धूर उड़ावत सीस पर, कहु रहीम केहि काज।
जेहि रज मुनि-पत्नी तरी, सो ढूँढत गजराज ॥२॥
जो गरीब सों हित करै, धनि 'रहीम' वे लोग।
कहा सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग ॥३॥
भावी ऐसी प्रबल है, केहि रहीम यह जान।
भावी काहू ना दही, दही एक भगवान ॥४॥
जो 'रहीम' भावी कतौं, होति आपुने हाथ।
राम न जाते हरिन सँग, सीय न रावन साथ ॥५॥
सतत संपति जानि के, सब को सब कुछ देइ।
दीनबंधु बिनु दीन कै, को रहीम सुधि लेइ ॥६॥
दीन सबन को लखत है, दीनहिं लखै न कोइ।
जो रहीम दीनहिं लखै, दीनबंधु सम होइ ॥७॥
जो विषया संतन तजी, मूढ़ ताहि लपटात।
ज्यों नर डारत बमन करि, स्वानु स्वादु सों खात ॥८॥

धन दारा अरु सुतन में, रहत लगाये चित्त।
क्यों 'रहीम' खोजत नहीं, गाढ़े दिन कर मित्त ॥३१॥

अब 'रहीम' मुसकिल परी, गाढ़े दोऊ काम।
सांचे से तो जग नहीं, झूठे मिले न राम ॥३२॥

'रहिमन' लाख भली करो, अगुनी अगुन न जाइ।
राग सुनत पय पियत हूँ,सांप सहज धरि खाइ ॥३३॥

'रहिमन' तीन प्रकार ते, हित अनहित पहिचानि।
परबस परे, परोस बसि, परे मामिला जानि ॥३४॥

सीत हरत तम हरत नित, भुवन भरत नहिं चूक।
'रहिमन'तेहि रवि को कहा,जो घटि लखै उलूक ॥३५॥

कागज को-सो पूतरा, सहजहिं में घुलि जाइ।
'रहिमन' यह अचरज लखौ, सोऊ खैंचत बाइ ॥३६॥

बिगरी बात बनै नहीं, लाख करौ किन कोइ।
'रहिमन' बिगरे दूध को, मथै न माखन होइ ॥३७॥

मथत-मथत माखन रहै, दही मही बिलगाइ।
'रहिमन' सोई मीत है, भीर परै ठहराइ ॥३८॥

'रहिमन' निज मन की व्यथा, मन ही राखौ गोय।
सुनि अठिलैहैं लोग सब, बाँटि न लैहैं कोय ॥३९॥

अब'रहीम' चुप करि रहिउ,समुझि दिनन कर फेर।
जब नीके दिन आइहैं, बनत न लगिहै बेर ॥४०॥

'रहिमन' बिपदा हू भली, जो थोरे दिन होइ।
हित अनहित या जगत में,जानि परत सब कोइ ॥४१॥

साधु सराहै साधुता, जती जोखिता जान।
'रहिमन' सांचो सूर को, बैरी करै बखान ॥४२॥
यों 'रहीम' सुख होत है, उपकारी के अंग।
बांटन वारे के लगै, ज्यों मेंहदी को रंग ॥४३॥

मांगे मुकुरि न को गयो, केहि न त्यागियो साथ।
मांगत आगे सुख लह्यो, ते 'रहीम' रघुनाथ ॥४४॥
छमा बड़न को चाहिये, छोटन को उत्पात।
का 'रहीम' हरि को घट्यो, जो भृगु मारी लात ॥४५॥
जब लगि वित्त न आपुनो, तब लगि मित्र न कोइ।
'रहिमन' अम्बुज अम्बु बिनु, रवि ताकर रिपु होइ ॥४६॥
'रहिमन' बात अगम्य कै, कहन सुनन कै नाहिँ।
जो जानत सो कहत नहिं, कहत सो जानत नाहिँ ॥४७॥
बरु 'रहीम' कानन बसौं, असन करिय फल तोइ।
बन्धु-मध्य गति दीन ह्वै, बसिबो उचित न कोइ ॥४८॥
'रहिमन' मैं या पेट सों, बहुत कहेउँ समुझाइ।
जो तू अनखाये रहै कब कोऊ अनखाइ ॥४९॥
'रहिमन' घरिया रहँट कहँ, त्यों ओछे कै डीठि।
रीतिहि सन्मुख होति हैं, भरी देखावै पीठि ॥५०॥
'रहिमन' ओछे नरन ते, तजौ बैर अरु प्रीति।
काटे चाटे स्वान के, दुहूँ भांति विपरीति ॥५१॥
'रहिमन' बहु भेषज करत, व्याधि न छांड़ति साथ।
खग मृग बसत अरोग बन, हरि अनाथ के नाथ ॥५२॥

'रहिमन' उजली प्रकृति को, नहीं नीच कर संग।
करिया बासन कर गहे, करिखा लागत अंग ॥५३॥
खैर खून खाँसी खुसी, बैर प्रीति मद-पान।
'रहिमन' दाबै ना दबै, जानत सकल जहान ॥५४॥
जैसी परै सो सहि रहै, कहि 'रहीम' यह देह।
धरती ही पर परत सब, सीत घाम अरु मेह ॥५५॥

सवैया

दीन चहै करतार जिन्हें सुख सो तो 'रहीम' टरै नहिं टारे।
उद्यम पौरुष कीने बिना धन आवत आपुहिं हाथ पसारे ॥
दैव हँसे अपनी अपनी बिधि के परपंच न जात बिचारे।
बेटा भयो बसुदेव के धाम औ दुँदुभि बाजत नंद के द्वारे ॥

छप्पय

कबहुँक खग मृग मीन कबहुँ मर्कटतनु धरि कै।
कबहुंक सुर-नर असुर-नाग-मय आकृति करि कै ॥
नटवत् लख चौरासि स्वाँग धरि धरि मैं आयो।
हे त्रिभुवन के नाथ ! रीझ को कछू न पायो ॥
जो हो प्रसन्न तो देहु अब मुकति दान माँगहु बिहँस।
जो पै उदास तो कहहु इम मत धरु रे नर स्वाँग अस ॥

घनाक्षरी

पट चाहे तन, पेट चाहत छदन, मन
चाहत है धन, जेती संपदा सराहिबी।

तेरोई कहाय कै 'रहीम' कहै दीनबंधु,
    आपनी·बिपत्ति जाय काके द्वार काहिबी ॥
पेट भर खायो चाहे,उद्यम बनायो चाहे,
    कुटुँब जियायो चाहे काढ़ि गुन लाहिबी।
जीविका हमारी जो पै औरन के कर डारो,
    ब्रज के बिहारी तो तिहारी कहां साहिबी ॥

बिहारीलाल

बिहारीलाल हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ शृंगारी कवि हैं। उन्होंने बहुत थोड़ा लिखा है किन्तु इतने मार्के का, कि इस थोड़े से ही उनकी गणना हिन्दी के नवरत्न कवियों में की जाती है। काव्य का वास्तविक और प्रधान उद्देश्य है इस भङ्गुर और दुःखपूर्ण संसार को मधुर बनाना, उसके अन्दर रस सींचना और उसके दुःख और मृत्यु को सुख और अमृत का रूप देना। इसी लिये काव्य में शृंगार रस को सब रसों में ऊँचा आसन दिया गया है। बिहारीलाल ने शृंगार रस का जिस खूबी से वर्णन किया है, वैसा आज तक कोई भी कवि नहीं कर सका। उनकी रचना का नाम

बिहारी-सतसई है और वह प्रायः सब की सब शृंगार रस से ओतप्रोत है। कुछ थोड़े दोहे ऐसे भी है जिन में वैराग्य और शान्त रस का उपदेश मिलता है और वह भी अनुपम और अद्वितीय। एक एक दोहा देखने में छोटा किन्तु नावक के तीर की भाँति गम्भीर घाव करने वाला, अर्थ अमित और आखर थोरे का उदाहरण है। यही कारण है कि बिहारी-सतसई पर आज तक जितनी टीकाएं हुई हैं उतनी किसी भी हिन्दी अथवा संस्कृत की रचना पर नहीं। वह सचमुच इतना गम्भीर सागर है कि उसमें जितनी भी डुबकी लगाई जाँयगी, उतने ही मोती मिलेंगे, इन मोतियों का मिलना कभी बंद ही नहीं होगा।

इन मोतियों को,साधारण जनसमाज की कौन कहे,बड़े बड़े हिन्दी और संस्कृत के कवियों ने अपना कण्ठहार बनाया है,सूरति मिश्र, कृष्ण, सरदार, चन्द्र (सुलतान पठान), लल्लूलाल, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और अम्बिकादत्त व्यास पद्मसिंह शर्मा,कृष्णबिहारी मिश्र ये सब ऊँचे कवि और आलोचक माने जाते हैं इन सब ने बिहारी के इन दोहों को अपनाया है और उन पर सुन्दर टीकाएं लिखी हैं। इन दोहों के दो-एक पद्यानुवाद संस्कृत और उर्दू में भी हो चुके हैं। बिहारी-सतसई के दोहों का क्रम पहले कुछ और था। आज़मशाह औरंगज़ेब के बेटे हिन्दी के बहुत प्रेमी थे। इन दोहों को वर्तमान रूप उन्होंने ही दिया है।

कवि बिहारीलाल ने अपने दोहों की रचना का आधार आर्या सप्तशती, गाथा सप्तशती, विकटनितम्बा अमरुशतक आदि संस्कृत काव्यों से लिया है। परन्तु इसमें उनकी प्रतिभा ने चार चाँद लगा दिये हैं। कहीं कहीं तो उनके दोहे संस्कृत के पद्यों से भी सुन्दर बन गये हैं।

विहारीलाल का जन्म ग्वालियर के निकट बसुआ गोविंदपुर गाँव में हुआ था। वे चौबे ब्राह्मण थे। लगभग वि० १६६० उनका जन्म संवत् है और १७२० मृत्यु संवत्। आचार्य केशवदास उनके कविता-गुरु थे। वे अधिकतर मथुरा अपनी ससुराल में ही रहा करते थे। पहले उनका कुछ दिन शाहजहाँ के साथ सम्पर्क रहा फिर आगरे में महाराज जयसिंह के यहां रहने लगे। सतसई की रचना जयसिंह की ही प्रेरणा का फल है। उनके यहां से उन्हें एक अशरफी प्रतिदिन पुरस्कार स्वरूप मिला करती थी।

विहारीलाल का शास्त्र और प्रकृति का अध्ययन बहुत गम्भीर था। उनकी भाषा ब्रज और बुन्देलखण्डी है—

ओजस्विनी और अलङ्कारपूर्ण शान्तरस, वैराग्य और नीति के दोहे पढ़ने से जान पड़ता है, वे मतमतान्तरों से बहुत ऊँचे उठे हुए थे और साम्प्रदायिक कलह उन्हें नहीं भाता था।

—— ——

दोहे

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परे, स्याम हरित दुति होय ॥१॥

मोहनि मूरति स्याम की, अति अद्भुत गति जोय।
बसति सुचित अंतर तऊ, प्रतिबिम्बित जग होय ॥२॥

सखि सोहति गोपाल के, उर गुंजन की माल।
बाहर लसति मनो पिये, दावानल की ज्वाल ॥३॥

नाचि अचानक ही उठे, बिन पावस बन मोर।
जानति हौं नन्दित करी, यहि दिसि नंद-किसोर ॥४॥

प्रलय करन बरषन लगे, जुरि जलधर इक साथ।
सुरपति गर्व हर्‍यो हरषि, गिरिधर गिरि धर हाथ ॥५॥

सोहत ओढ़े पीत पट, स्याम सलोने गात।
मनो नीलमनि-सैल पर, आतप पर्‍यो प्रभात ॥६॥

अधर धरत हरि के परत, ओठ डीठ पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्र-धनुष-रँग होति ॥७॥

नीच हिये हुलसो रहै, गहे गेंद को पोत ।
ज्यौं-ज्यौं माथे मारिये, त्यौं-त्यौं ऊँचो होत ॥८॥
क्यों न ओछे नरन सों, सरत बड़न के काम ।
मढ़ो दमामो जात कहुँ, कहि चूहे के चाम ॥६॥
कोटि जतन कोऊ करौ, परै न प्रकृतिहि बीच ।
नल-बल जल ऊँचै चढ़ै, तऊ नीच को नीच ॥१०॥
लट्टुवा लौं प्रभु कर गहै, निगुनी गुन लपटाय ।
वहै गुनी कर ते छुटै, निगुनीयै ह्वै जाय ॥११॥
दुसह दुराज प्रजानि को, क्यों न बढ़ै अति दंद ।
अधिक अँधेरो जग करैं, मिलि मावस रवि-चंद ॥१२॥
बसै बुराई जासु तन, ताही को सनमान ।
भलो भलो कहि छोड़िये, खोटे ग्रह जप दान ॥१३॥
कहैं इहै सब स्रुति सुमृति, इहै सयाने लोग ।
तनी दबावत निसक ही, पातक राजा रोग ॥१४॥
बड़े न हूजे गुनन बिन, बिरद बड़ाई पाय ।
कहत धतूरे सों कनक, गहनो गढ़ो न जाय ॥१५॥
गुनी गुनी सब कोउ कहै, निगुनी गुनो न होत ।
सुन्यो कहूँ तरु अर्क ते, अर्क समान उदोत ॥१६॥
संगति सुमति न पावही, परे कुमति के धंध ।
राखौ मेलि कपूर में, हींग न होत सुगंध ॥१७॥
सबै हँसत कर तारि दै, नागरता के नांव ।
गयो गरब गुन को सबै, बसे गँवारे गांव ॥१८॥

नर की अरु नल-नीर की, गति एकै करि जोइ।
जेतो नीचो ह्वै चलै, तेतो ऊँचो होइ ॥१९॥

बढ़त-बढ़त सम्पति-सलिल, मन सरोज बढ़ि जाय।
घटत-घटत सु न फिरि घटै, बरु समूल कुम्हिलाय ॥२०॥

जो चाहौ चटक न घटै, मैलो होय न मित्त।
रज राजस न छुवाइये, नेह चीकने चित्त ॥२१॥

मीत न नीत गलीत ह्वै, जो धरिये धन जोरि।
खाये खरचे जौ जुरै तो जोरिये करोरि ॥२२॥

अरे परेखो को करै, तुही बिलोक बिचारि।
किहि नर किहिं सर राखियो, खरे बढ़े पर पारि ॥२३॥

कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वा खाये बौरात है, या पाये बौराय ॥२४॥

बुरो बुराई जो तजै, तो चित खरो सकात।
ज्यों निकलंक मयंक लखि, गनैं लोग उतपात ॥२५॥

अरे हंस या नगर में, जैयो आप बिचारि।
कागनि सों जिन प्रीति करि, कोकिल दई बिड़ारि ॥२६॥

को कहि सकै बड़ेन सों, लखे बड़ी हू भूल।
दीने दई गुलाब को, इन डारन वे फूल ॥२७॥

कर लै सूँघि सराहि कै, सबै रहैं गहि मौन।
गंधी अंध गुलाब को, गँवई गाहक कौन ॥२८॥

को छूट्यौ यहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात।
ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहत, त्यों-त्यों उरझत जात ॥२९॥

दिन दस आदर पायकै, करि लै आपु बखान।
जौलौं काग सराध-पख तौलौं तो सनमान ॥३०॥

मरत प्यास पिंजरा परो, सुवा दिनन के फेर।
आदर दै दै बोलियत, बायस बलि की बेर ॥३१॥

जाके एकौ एक हू, जग व्यवसाय न कोय।
सो निदाघ फूलै फलै, आक डहडहो होय ॥३२॥

नहिं पावस ऋतुराज यह, सुनु तरवर मति भूल।
अपत भये बिन पाइहै, क्यों नव दल फल फूल ॥३३॥

सीतलता रु सुगंध की, महिमा घटी न मूर।
पीनसवारे जो तज्यो, सोरा जानि कपूर ॥३४॥

जो सिर धरि महिमा मही, लहियत राजा-राव।
प्रगटत जड़ता आपनी, मुकुट पहिरियत पाव ॥३५॥

चले जाहु ह्याँ को करत, हाथिन कौ ब्योपार।
नहि जानत या पुर बसत, धोबी ओड़ कुम्हार ॥३६॥

जगत जनायो जेहि सकल, सो हरि जान्यो नाहिं।
ज्या आँखिन सब देखियै, आँखि न देखी जाहिं ॥३७॥

जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काँचे नाचै वृथा, साँचे राँचै राम ॥३८॥

यह जग काँचो काँच-सो, मैं समझ्यो निरधार।
प्रतिबिम्बित लखियै जहाँ, एकै रूप अपार ॥३९॥

बुधि अनुमान प्रमान स्रुति, किये नीठि ठहराय।
सूछम गति परब्रह्म की, अलख लखी नहिं जाय ॥४०॥

तौ लगि या मन-सदन में, हरि आवैं किहि बाट।
बिकट जटे जौलौं निपट, खुलैं न कपट-कपाट ॥४१॥
भजन कह्यौ तासों भज्यो, भज्यो न एकौ बार।
दूर भजन जासौं कह्यौ, सो तू भज्यो गँवार ॥४२॥
दूरि भजत प्रभु पीठि दै, गुन-बिस्तारन काल।
प्रगटत निर्गुन निकट ही, चंग-रंग गोपाल ॥४३॥
जात-जात बित होत है, ज्यों जिय में संतोष।
होत-होत त्यों होय तौ, होय घरी में मोष ॥४४॥
नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यो मनो तारन-बिरद, बारक बारन तारि ॥४५॥
दीरघ सांस न लेहि दुख, सुख साईं नहिं भूल।
दई दई क्यों करत है, दई दई सु कबूल ॥४६॥
थोरेई गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुमहू कान्ह मनो भये, आज-काल्हि के दानि ॥४७॥
कब को टेरत दीन ह्वै, होत न स्याम सहाय।
तुमहू लागी जगतगुरु, जगनायक जग-बाय ॥४८॥
घर-घर डोलत दीन ह्वै, जन-जन जांचत जाय।
दियें लोभ-चसमा चखन, लघुहू बड़ो लखाय ॥४९॥
जो अनेक पतितन दियो, मोहू दीजै मोष।
तो बांधौ अपने गुनन, जो बांधे ही तोष ॥५०॥

वृन्द

'वृन्द' के नीति के दोहे बहुत विख्यात हैं। उनके पढ़ने से जान पड़ता है, वे एक बहुत बड़े अनुभवशील व्यक्ति थे। उनकी कविता में जनसाधारण के लिये आचार शिक्षा के साथ ही मनोविनोद की भी पर्याप्त सामग्री है। सीधी सादी बातें किन्तु ज़बानी याद रखने की, और भाषा बिल्कुल सीधी, पढ़ते ही झट समझ में आने वाली, न कहीं अर्थ-क्लिष्टता और न कहीं भाव-दुरूहता।

उनका जन्म सं० कुछ निश्चित नहीं। हिन्दी इतिहास लेखक लगभग १७४२ का अनुमान करते हैं। जन्म उनका कहीं मथुरा के पास हुआ था। वे पहले औरंगजेब के दरबारी कवि थे। कुछ काल बाद उनके

पोते अज़ीमुश्शान के कवि रहे। अज़ीमुश्शान उर्दू और हिन्दी का एक बहुत अच्छा कवि हो गया है। बङ्गाल विहार और उड़ीसा की सूबेदारी उसके सिपुर्द थी। वृन्द के साथ उसका बहुत प्रेम था। वृन्द ने सतसई की पुस्तक उसके आश्रय में ही लिखी थी। भाव पंचाशिका और शृङ्गारशिक्षा नाम की दो पुस्तकें और भी वृन्द के हाथ की लिखी बतलाई जाती हैं किन्तु बहुत खोज के बाद वे अब तक नहीं मिल सकीं। वृन्द की कविता प्रायः संस्कृत की सूक्तियों और राजनीतिक श्लोकों के आधार पर है।

कृष्णगढ़ नरेश महाराज राजसिंह की वृन्द पर बहुत प्रीति थी। वे इन्हें गुरुवत् मानते थे। इनके वंशधर अब तक कृष्णगढ़ में रहते हैं।

दोहे

श्री गुरुनाथ प्रभाव ते, होत मनोरथ सिद्धि ।
घन ते ज्यों तरु बेलि दल, फूल फलन की वृद्धि ॥१॥
जाही ते कछु पाइये, करिये ताकी आस ।
रीते सरवर पै गये, कैसे बुझत पियास ॥२॥
कैसे निबहै निबल जन, कर सबलन सों बैर ।
जैसे बसि सागर विषे, करत मगर सों बैर ॥३॥
दीयो अवसर को भलो, जासो सुधरै काम ।
खेती सूखे बरसबो, घन को कौने काम ॥४॥
पिसुन छल्यो नर सुजन सों, करत विश्वास न चूकि ।
जैसे दाध्यो दूध को, पीवत छांछहिं फूँकि ॥५॥
ओछे नर की प्रीति की, दीनी रीति बताय ।
जैसे छीलर ताल जल, घटत घटत घटि जाय ॥६॥
बनती देख बनाइये, परन न दीजै खोट ।
जैसी चले बयार तब, तैसी दीजे ओट ॥७॥
बुरे लगत सिख के वचन, हिये विचारो आप ।
करुवे भेषज बिन पिये, मिटै न तन को ताप ॥८॥

विधि रूठै तूठै कवन, को करि सकै सहाय ।
वनदव भय जल गत नलिन, तहँ हिम देत जराय ॥९॥
फेर न ह्वै है कपट सों, जो कीजै व्योपार ।
जैसे हांडी काठ की, चढ़ै न दूजी बार ॥१०॥
अति परिचै ते होत है, अरुचि अनादर भाय ।
मलयागिरि की भीलनी, चन्दन देत जराय ॥११॥
भले बुरे सब एक से, जौलौं बोलत नाहिं ।
जानि परतु है काक पिक, ऋतु वसन्त के माहिं ॥१२॥
मधुर वचन ते जात मिट, उत्तम जन अभिमान ।
तनिक सीत जल सों मिटे, जैसे दूध उफान ॥१३॥
सबै सहायक सबल के, कोउ न निबल सहाय ।
पवन जगावत आग को, दीपहि देत बुझाय ॥१४॥
दुष्ट न छांड़े दुष्टता, कैसे हू सुख देत ।
धोये हूं सौ बेर के, काजर होय न सेत ॥१५॥
कोउ बिन देखे बिन सुने, कैसे कहै विचार ।
कूप-भेक जाने कहा, सागर को विस्तार ॥१६॥
जो सब ही को देत है, दाता कहिये सोइ ।
जलधर वर्षत सम विषम, थल न विचारत कोइ ॥१७॥
स्वारथ के सब ही सगे, बिन स्वारथ कोउ नाहिं ।
जैसे पच्छी सरस तरु, निरस भये उड़ि जाहिं ॥१८॥
सुख बीते दुख होत है, दुख बीते सुख होत ।
दिवस गये ज्यों निसि उदित, निसि गत दिवस उदोत ॥१९॥

जे चेतन ते क्यों तजैं, जाको जासों मोह।
चुम्बक के पीछे लग्यो, फिरत अचेतन लोह ॥२०॥

जो पावे अति उच्च पद, ताको पतन निदान।
ज्यों तपि तपि मध्याह्न लौं, अस्त होतु है भान ॥२१॥

जाके सँग दूषन दुरै, करिये तिहिं पहिचानि।
जैसे समुझैं दूध सब, सुरा अहीरी पानि ॥२२॥

मूरख गुन समुझै नहीं, तौ न गुनी में चूक।
कहा भयो दिन को विभौ, देखै जो न उलूक ॥२३॥

सज्जन तजत न सजनता, कीन्हेहु दोष अपार।
ज्यों चन्दन छेदै तऊ, सुरभित करहि कुठार ॥२४॥

जाको जहँ स्वारथ सधै, सोई ताहि सुहात।
चोर न प्यारी चाँदनी, जैसे कारी रात ॥२५॥

बहुतनि बल मिलि बल करैं, करैं जु चाहैं सोय।
तिनकन की रसरी करी, करी निबन्धन होय ॥२६॥

दुर्जन के संसर्ग ते, सज्जन लहत कलेश।
ज्यों दशमुख अपराध ते, बंधन लह्यो जलेश ॥२७॥

जे उत्तम ते असम सों, धरत न रिस मन माहिं।
घन गरजे हरि हुंकरै, स्यार बोल सुनि नाहिं ॥२८॥

कन कन जोरे मन जुरै, खाते निबरै सोय।
बूँद बूँद ज्यों घट भरै, टपकट बीते तोय ॥२९॥

ऊँचे बैठे ना लहैं, गुण बिन बड़पन कोइ।
बैठो देवल शिखर पर, वायस गरुड़ न होइ ॥३०॥

दोषहि को उमहै गहैं, गुण न गहै खल लोक ।
पिये रुधिर पय ना पिये, लागि पयोधर जोंक ॥३१॥
जिहि जासों मतलब नहीं, ताकी ताहि न चाह ।
ज्यों निस्नेही जीव के, तृण समान सुरनाह ॥३२॥
उद्यम कबहु न छाँड़िये, पर आशा के मोद ।
गागरि कैसे फोरिये, उनयो देखि पयोद ॥३३॥
क्यों कीजे ऐसो जतन, जाते काज न होय ।
परबत पै खोदे कुँवा, कैसे निकसे तोय ॥३४॥
सुधरी बिगरै वेग ही, बिगरी फिर सुधरै न ।
दूध फटे कांजी परे, सो फिर दूध बनै न ॥३५॥
हित हू भलो न नीच को, नाहिन भलो अहेत ।
चाटि अपावन तन करै, काटि श्वान दुख देत ॥३६॥
यदपि सहोदर होय तऊ, प्रकृति और की और ।
विख मारे ज्यावे सुधा, उपजे एकहि ठौर ॥३७॥
उत्तम पर कारज करै, अपनो काज बिसार ।
पूरे अन्त जहान को, तापस भिक्षा धार ॥३८॥
काम परे ही जानिये, जो नर जैसा होय ।
बिन ताये खोटो खरो, गहनो लखै न कोय ॥३९॥
होत सुसंगति सहज सुख, दुख कुसंग के थान ।
गंधी और लुहार की, देखो बैठि दुकान ॥४०॥
विपत परे सुख पाइये, जो ढिग करिये भौन ।
नैन सहाई बधिर के, अंध सहाई श्रौन ॥४१॥

कहा भयो जो धन भयो, गुन ते आदर होइ।
कोटि दोय धानी धनुष,गुन बिन गहत न कोइ ॥४२॥
गुनवारौ संपति लहै, लहै न बिन गुन कोय।
काढ़े नीर पताल ते, जो गुनयुत घट होय ॥४३॥
दुष्ट निकट बसिये नहीं, बस न कीजिये बात।
कदली बेर प्रसङ्ग ते, छिदै कंटकन पात ॥४४॥
नृप-प्रताप तैं देश में, रहे दुष्ट नहिं कोय।
प्रगटत तेज दिनेश कौं, वहाँ तिमिर नहिं होय ॥४५॥
उत्तम जन सों मिलत ही, अवगुण सो गुण होय।
घन सँग खारो उदधि मिल, बरसे मीठो तोय ॥४६॥
करत करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते, शिल पर परत निशान ॥४७॥
सुख दिखाय दुख दीजिये, खल सों लरिये काहि।
जो गुर दीने ही मरै, क्यों विष दीजै ताहि ॥४८॥
सब सुख है संतोष में, धरिये मन संतोष।
नेक न दुरबल होत है, सर्प पवन के पोष ॥४९॥
सोई अपनो आपनो, रहे निरन्तर साथ।
होत परायो आपनो, शस्त्र पराये हाथ ॥५०॥
बिनसत बार न लागई, ओछे जन की प्रीति।
अंबर डंबर सांझ के, ज्यों बारू की भीति ॥५१॥
होय भले के सुत बुरो, भलो बुरे के होय।
दीपक के काजल प्रगट, कमल कीच ते जोय ॥५२॥

सुख सज्जन के मिलन को, दुर्जन मिलै जनाय।
जाने ऊख मिठास को, जब मुख नींब चबाय ॥५३॥
बिन पूछे ही कहत है, सज्जन हित के बैन।
भले बुरे को कहत है, ज्यों तमचुर गत रैन ॥५४॥
जा में विद्या नारदी, बिगरन देर न लाग।
पैस चोर भुँसि स्वान को,कहत धनी सों जाग ॥५५॥
करै न कबहूँ साहसी, दीन-हीन सा काज।
भूख सहै पर घास को, नहिं खावै मृगराज ॥५६॥
अपने अपने समय पर, सब को आदर होय।
भोजन प्यारो भूख में, तिस में प्यारो तोय ॥५७॥
मीठी कोऊ वस्तु नहिं, मीठी जाकी चाह।
अमली मिसरी छांडि कै, आफू खात सराहि ॥५८
द्वै ही गति है बड़ेन की, कुसुम मालती भाय।
कै सबके सिर पर रहैं, कै बन मांहि बिलायँ ॥५९॥
उत्तम विद्या लीजिये, जदपि नीच पै होय।
परयो अपावन ठौर महं, कंचन तजत न कोय ॥६०॥

गिरधर कविराय

गिरधर कविराय जनसाधारण के लिये बहुत काम के कवि हैं। ये अपनी कुण्डलियों के लिये बहुत प्रसिद्ध हैं। भाषा अवध के गाँवों की है। व्याकरण के संयम पर उतना ध्यान नहीं दिया गया, किन्तु फिर भी उसमें ओज की कमी नहीं आने पाई। इनकी कविता में समाज, राजनीति, धर्म, व्यवहार की बातें मिलती हैं, जो अनुभव के आधार पर ही लिखी गई हैं।

जान पड़ता है, उनकी स्त्री भी कविता करती थी। उसकी कविता भी दूध और मिसरी की भाँति उनकी कविता में मिल गई है। अपनी कविता में उनकी स्त्री ने उन्हें 'साईं' कह कर सम्बोधित किया है।

इनका जन्म सं० १७७३ के लगभग बतलाया जाता है। जाति और स्थान आदि का कोई पता नहीं। कहा जाता है, ये मुल्तान के पास कहीं रहते थे। 'कविराय' पद से कोई भाट जान पड़ते हैं। इनके सम्बन्ध में यह कथा बहुत प्रसिद्ध है कि एक बार पड़ोस के एक बढ़ई से इनका बिगाड़ हो गया। उस बढ़ई की राजा के यहां खूब चलती थी। एक दिन उसने राजा के लिये एक सुन्दर पलंग तैयार किया। राजा उसे देख कर बहुत प्रसन्न हुआ और उसे इसी तरह का एक और पलंग बना देने के लिये कहा। उस समय बढ़ई ने गिरधर को अपमानित करने की युक्ति सोची। उसने राजा से कहा—इस पलंग के साथ की लकड़ी गिरधर के घर के वृक्ष से ही मिल सकती है, नहीं तो वैसा सुन्दर पलंग नहीं बन सकेगा। राजा ने अपने नौकरों को उस वृक्ष के काटने की आज्ञा दे दी। तब गिरधर ने बहुत अनुनय विनय की परन्तु राजा ने एक न सुनी। इससे वे दुखी हो अपनी स्त्री को भी साथ लेकर वहां से चल पड़े और भ्रमण करने लगे इस भ्रमण-यात्रा में ही इन दोनों ने मिल कर इन कुण्डलियों की रचना की थी।

कुण्डलियाँ

(१)

साँई अवसर के पड़े, को न सहे दुख द्वन्द।
जाय बिकाने डोम घर, वै राजा हरिचन्द॥
वै राजा हरिचन्द, करैं मरघट रखवारी।
धरे तपस्वी वेष, फिरे अर्जुन बलधारी॥
कह गिरिधर कविराय, रसोई भीम बनाई।
को न करै घटि काम, परे अवसर के साईं॥

(२)

बिना बिचारे जो करै, सो पाछे पछिताय।
काम बिगारे आपनो, जग में होत हँसाय॥
जग में होत हँसाय, चित्त में चैन न पावै।
खान पान सन्मान, राग रँग मनहि न भावै॥
कह गिरिधर कविराय, दुःख कुछ टरत न टारे।
खटकत है चित माँहि, कियो जो बिना बिचारे॥

(३)

दौलत पाइ न कीजिये, सपने में अभिमान।
चंचल जल दिन चारि को, ठाँउ न रहत निदान॥

ठाँउ न रहत निदान, जियत जग में यश लीजै।
मीठे वचन सुनाय, विनय सबही सों कीजै॥
कह गिरिधर कविराय, अरे यह सब घर डोलत।
पाहुन निशि दिन चारि, रहत सबही के दौलत॥

(४)

साईं सब संसार में, मतलब को व्यवहार।
जब लगि पैसा गांठ में, तब लगि ताको यार॥
तब लगि ताको यार, यार सँग ही सँग डोलैं।
पैसा रहा न पास, यार मुख से नहिं बोलैं॥
कह गिरिधर कविराय, जगत यह लेखा भाई।
करत बेगरजी प्रीति, यार बिरला कोई साईं॥

(५)

बीती ताहि बिसारि दै, आगे की सुधि लेइ।
जो बनि आवे सहज में, ताही में चित देइ॥
ताही में चित देइ, बात जोई बनि आवै।
दुर्जन हँसे न कोइ, चित्त में खेद न पावै॥
कह गिरिधर कविराय, यहै करु मन परतीती।
आगे की सुधि लेइ, समुझि बीती सो बीती॥

(६)

लाठी में गुण बहुत हैं, सदा राखिये संग।
गहरो नदि नारो जहां, तहां बचावै अंग॥
तहां बचावै अंग, झपटि कुत्ता कहँ मारै।
दुसमन दावागीर, तिनहुं को मस्तक झारै॥

कह गिरिधर कविराय, सुनो हो धूर के बाठी।
सब हथियारन छाँड़ि, हाथ महँ लीजै लाठी॥

(७)

चिन्ता ज्वाल शरीर बन, दावा लगि लगि जाय।
प्रगट धुवां नहिं देखियत, उर अन्तर धुँधवाय॥
उर अन्तर धुँधवाय जरै, ज्यों कांच की भट्टी।
जरिगो लोहू मांस, रह गई हाड़ की ठट्टी॥
कह गिरिधर कविराय, सुनो रे मेरे मिन्ता।
वे नर कैसे जियें, जाहि तन व्यापै चिन्ता॥

(८)

गुन के गाहक सहस नर, बिनु गुन लहै न कोय।
जैसे कागा कोकिला शब्द सुनैं सब कोय॥
शब्द सुनैं सब कोय, कोकिला सबै सुहावन।
दोऊ को इक रंग, काग सब भये अपावन॥
कह गिरिधर कविराय, सुनो हो ठाकुर मन के।
बिनु गुन लहै न कोय, सहस नर गाहक गुन के॥

(९)

मित्र बिछोहा अति कठिन, मति दीजै करतार।
वाके गुन जब चित चढ़ैं, बरसत नयन अपार॥
बरसत नयन अपार, मेघ सावन झरि लाई।
अब बिछुरे कब मिलैं, कहो कैसी बनिआई॥
कह गिरिधर कविराय, सुनो हो बिनती एहा।
हे करतार दयालु, देहु जनि मित्र बिछोहा॥

(१०)

साइं घोड़न के अछत, गदहन पायो राज।
कौआ लीजै हाथ में, दूरि कीजिये बाज॥
दूरि कीजिये बाज, राज पुनि ऐसो आयो।
सिंह कीजिये कैद, स्यार गजराज चढ़ायो॥
कह गिरिधर कविराय, जहाँ यह बूझि बड़ाई।
तहाँ न कीजै भोर, सांझ उठि चलिए साइं॥

(११)

कमरी थोरे दाम की, आवै बहुतै काम।
खासा मलमल बाफता, उन कर राखै मान॥
उन कर राखै मान, बुंद जहँ आड़े आवै॥
बकुचा बाँधे मोट, रात को झारि बिछावै॥
कह गिरिधर कविराय, मिलत है थोरे दमरी।
सब दिन राखै साथ, बड़ी मर्यादा कमरी॥

(१२)

साईं अपने चित्त की, भूलि न कहिये कोइ।
तब लग मन में राखिये, जब लग कारज होइ॥
जब लग कारज होइ, भूलि कबहूँ नहिं कहिये।
दुर्जन तातो होय, आप सियरे ह्वै रहिये॥
कह गिरिधर कविराय, बात चतुरन की नाईं।
करतूती कहि देत, आप कहिये नहिं साईं॥

(१३)

कृतघन कबहुँ न मानहीं, कोटि करै जो कोय।
सर्वस आगे राखिये, तऊ न अपनो होय॥
तऊ न अपनो होय, भले की भली न मानै।
काम काढ़ि चुप रहै, फेरि तिहि नहिं पहिचानै॥
कह गिरिधर कविराय, रहत नित ही निर्भय मन।
मित्र शत्रु सब एक, दाम के लालच कृतघन॥

(१४)

राजा के दरबार में, जैये समया पाय।
साईं तहां न बैठिये, जहँ कोउ देय उठाय॥
जहँ कोउ देय उठाय, बोल अनबोले रहिये।
हँसिये नहीं हहाय, बात पूछे ते कहिये॥
कह गिरिधर कविराय, समय सों कीजै काजा।
अति आतुर नहिं होय, बहुरि अनखैहैं राजा॥

(१५)

साईं समय न चूकिये, यथाशक्ति सन्मान।
को जाने को आइहै, तेरी पौरि प्रमान॥
तेरी पौरि प्रमान, समय असमय तकि आवै।
ताको तू मन खोलि, अंक भरि हृदय लगावै॥
कह गिरिधर कविराय, सबै यामैं सधि आई।
शीतल जल फल फूल, समय जनि चूको साईं॥

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

आजकल हिन्दी गद्य और पद्य को जो नयी शैली दीख पड़ती है, उसको मूल रूप देने में भारतेन्दु बाबू का भारी हाथ है। वे काशी के एक प्रतिष्ठित और समृद्ध परिवार में एक प्रतिभावान कवि का हृदय लेकर पैदा हुए थे। उनके पिता श्री गोपालचन्द्र भी एक अच्छे कवि थे। इन सब उपकरणों को देख कर सहसा ही श्रीमद्भगवद् गीता का यह श्लोक स्मरण हो आता है—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥

वे इस लोक में केवल ३४ वर्ष ही रह पाये किन्तु इतने ही अल्प जीवनकाल में उन्होंने हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र में वह क्रान्ति उत्पन्न की थी जैसी धर्म-क्षेत्र में श्री शंकराचार्य ने।

भाद्र शुक्ल पंचमी सं० १९०७ उनकी जन्म तिथि है और माघ कृष्ण सं० १९४१ उनका निधनकाल। इतने स्वल्प जीवन में उन्होंने कुल कर छोटे बड़े १७५ ग्रन्थ लिखे हैं। नाट्यशास्त्र, नाटक, प्रहसन,

कथा, कहानी, कविता और इतिहास आदि उच्च कोटि के साहित्य के किसी विषय को भी अछूता नहीं छोड़ा और सब में एक सी सफलता प्राप्त की है। उनकी कविता में माधुर्य, ओज और प्रसाद—तीनों गुणों के नमूने मिलते हैं और इन तीनों में उनकी विदग्धता के विविध रूपों के दर्शन होते हैं। कविता की भाषा व्रजभाषा भी है और खड़ीबोली भी। दोनों का ठाठ एक दूसरे से बढ़ा हुआ है। राष्ट्र के वे परम भक्त थे। उनकी अधिकांश रचनाओं में हमें राष्ट्रीय भावों का संदेश मिलता है। उनकी कविता को किसी भी श्रेष्ठ कवि की कविता के साथ रक्खा जा सकता है। उनके नाटकों की शैली नवीन है। उनमें कई तो पूरी सफलता के साथ खेले भी जा चुके हैं।

भारतेन्दु एक महान कवि होने के साथ ही परम उदार और दानी भी थे। उन्होंने हिन्दी के उन्नयन और संवर्द्धन के लिये अपनी लाखों की पूंजी को पानी की तरह बहा दिया था। उनसे कई कवियों ने धन और मान प्राप्त किया। वे अपने समय के कई कवियों के निर्माता भी थे, और हरिश्चन्द्र-मैगज़ीन, हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका आदि कई पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक भी। नीचे उनकी प्रसिद्ध और आज भी पढ़ने में नवीन सी जान पड़ने वाली कुछ पुस्तकों के नाम दिए जाते हैं :—

प्रेम-माधुरी, प्रेम-फुलवारी, सत्य-हरिश्चन्द्र, मुद्राराक्षस, अन्धेर-नगरी, भारत-जननी, भारत-दुर्दशा, चन्द्रावली, नील-देवी।

भूलना नहीं चाहिए हरिश्चन्द्र उनका नाम है और 'भारतेन्दु' उनकी विद्वत्समाज की ओर से मिली हुई उपाधि। आज भी बनारस में हरिश्चन्द्र हाई स्कूल उनके नाम का स्मारक है, यह अब इंटर मीज़ियट कालेज हो गया है। भारतेन्दु हिन्दी नवयुग के प्रवर्तक थे।

विनय

(१)

हरि हम कौन भरोसे जीएँ।
तुमरे रुख फेरे करुनानिधि काल-गुदरिया सीएँ॥
यों तो सब ही खात उदर भरि अरु सब ही जल पीएँ।
पै धिक धिक तुम बिन सब माधो बादिहिं सांसा लीएँ।
नाथ बिना सब व्यर्थ धरम अरु अधरम दोऊ कीएँ।
'हरीचंद' अब तो हरि बनिहै कर-अवलम्बन दीएँ॥

(२)

उमरि सब दुख ही मांहि सिरानी।
अपने इनके उनके कारन रोअत रैन बिहानी॥
जहँ तहँ सुख की आसा करिकै मन बुधि सह लपटानी।
जहँ तहँ धन संबंध जनित दुख पायो उलटि महानी॥
सादर पियो उदर भरि विष कहँ धोखे अमृत जानी।
'हरीचंद' माया-मंदिर सों मति सब बिधि बौरानी॥

(३)

तन-पौरुष सब थाका मन नहिं थाका हो माधो।
केस पके तन पक्यौ रोग सों मनुआँ तबहु न पाका॥
अर्जुन-भीम सरिस चाहत यह करन विषय-रन साका।
बीती रैन तबौ मतवारा घोर नींद में छाका॥
हारि गयो पै झूठहि गाड़े अबहूँ विजय-पताका।
'हरीचंद' तुम बिनु को रोकै ऐसे ठग को नाका॥

(४)

अहो हरि वेहू दिन कब ऐहैं।
जा दिन में तजि और संग सब हम ब्रज-बास बसैहैं॥
संग करत नित हरि-भक्तन को हम नेकहु न अघैहैं।
सुनत श्रवन हरि-कथा सुधारस महामत्त ह्वै जैहैं॥
कब इन दोउ नैनन सों निसिदिन नीर निरंतर बहिहैं।
'हरीचंद' श्री राधे राधे कृष्ण कृष्ण कब कहिहैं॥

(५)

करहु उन बातन की प्रभु याद।
जो अरजुन सों भारत-रन में कही थापि मरजाद॥
कैसहु होय दुराचारी पै सेवै मोहिं अनन्य।
ताही कहँ तुम साधु गुनहु या जग मैं सोई धन्य॥
सीघ्र धरम मति शांति पाइहैं जो राखत मम आस।
अरजुन मम परतिज्ञा जानहु नहिं मम भक्त-बिनास॥
छांड़ि धरम सब लोक बेद के मम सरनहिं इक आउ।
सब पापन सों तोहिं छुड़ैहों कछु न सोच जिय लाउ॥

कही विभीषन सरन समय में सोऊ सुमिरहु गाथ।
लछिमन हनूमान आदिक सब याके साखी नाथ॥
हम तुमरे हैं कहें एकहू बार सरन जो आइ।
ताहि जगत सों अभय करत तुम सबहि भाँति अपनाइ॥
यहू कह्यौ मम जनहिं वासना उपजै और न हीय।
जिमि कूटे चुरए धानन में उपजै नाहीं बीय॥
यहू कह्यौ तुम मो कहँ प्यारे निह-किंचन अरु दीन।
यहू कह्यौ तुम हमहि जीव-के प्रेरक अंतर-लीन॥
कहँ लौं कहौं सुनौ इतनी अब सत्यसंध महराज।
'हरीचंद' की बार भुलाई क्यौं वे बातैं आज॥

उद्बोधन

जागो जागो रे भाई।
सोअत निसि बैस गंवाई। जागो जागो रे भाई॥
निसि की कौन कहै दिन बीत्यौ काल राति चलि आई।
देखि परत नहिं हित अनहित कछु परे बैरि बसि आई॥
निज उद्धार पंथ नहिं सूझत सीस धुनत पछिताई।
अबहूँ चेति पकरि राखौ किन जो कछु बची बड़ाई॥
फिर पछिताये कछु नहिं ह्वै है रहि जैहौ मुँह बाई।

घर की फूट

जगत में घर की फूट बुरी।
घर के फूटहि सों बिनसाई सुबरन लंक पुरी॥

फूटहि सों सब कौरव नासे भारत युद्ध भयो।
जाको घाटो या भारत मैं अबलौं नहिं पुजयो॥
फूटहि सों जयचन्द बुलायो जवनन भारत धाम।
जाको फल अबलौं भोगत सब आरज होइ गुलाम॥
फूटहि सों नव नन्द बिनासे गयो मगध को राज।
चन्द्रगुप्त को नासन चाह्यौ आपु नसे सह साज॥
जो जग में धन मान और बल अपुनो राखन होय।
तो अपुने घर में भूलेहू फूट करौ मति कोय॥

मृतक का रूप

सोई मुख जेहि चंद बखान्यो।
सोई अंग जेहि प्रिय करि जान्यो॥

सोई भुज जो प्रिय गर डारें।
सोइ भुज जिन नर विक्रम पारें॥

सोई पद जिहि सेवक वंदत।
सोई छबि जेहि देखि अनंदत॥

सोइ रसना जहँ अमृत बानी।
जेहि सुनिकै हिय नारि जुड़ानी॥

सोइ हृदय जहँ भाव अनेका।
सोई सिर जहँ निज बच टेका॥

सोई छविमय अंग सुहाये।
आजु जीव विनु धरनि सुहाये॥

कहाँ गई वह सुन्दर सोभा।
जीवत जेहि लखि सब मन लोभा॥

प्रानहुं ते वढ़ि जा कहँ चाहत।
ता कहँ आजु सबै मिलि दाहत॥

फूल बोझहू जिन न सहारे।
तिन पै बोझ काठ बहु डारे॥

सिर पीड़ा जिनकी नहिं हेरी।
करत कपाल-क्रिया तिन केरी॥

छिनहूँ जे न भये कहुँ न्यारे।
तेऊ बन्धुगन छोड़ि सिधारे॥

जो दृग कोर महीप निहारत।
आजु काक तेहि भोज विचारत॥

भुजबल जे नहिं भुवन समाये।
ते लखियत मुख कफन छिपाये॥

नरपति प्रजा भेद विनु देखे।
गने काल सब एकहि लेखे॥

सुभग कुरूप अमृत विष साने।
आजु सबै इक भाव बिकाने॥

पुरु दधीच कोऊ अब नाहीं।
रहे नाम ही ग्रन्थन माहीं॥

यमुना-वर्णन

तरनि-तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल-परसन-हित मनहुँ सुहाये॥
किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥
मनु आतप-बारन तीर को सिमिटि सबै छाये रहत।
कै हरि-सेवा हित नै रहे निरखि नैन मन सुख लहत॥१॥
कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवालनि-मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज-सोभा।
कै उमँगे प्रिय प्रिया प्रेम के अनगिन गोभा॥
कै करिकै कर बहु पीय कों टेरत निज ढिग सोहई।
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई॥२॥
कै पिय पद उपमान जानि एहि निज उर धारत।
कै मुख करि बहु भृंगन मिस अस्तुति उच्चारत॥
कै ब्रज-तिय-गन-बदन-कमल की झलकत झाईं।
कै ब्रज हरिपद-परस-हेत कमला बहु आईं॥
कै सात्विक अरु अनुराग दोउ ब्रजमण्डल बगरे फिरत।
कै जानि लच्छमी-भौन एहि करि सतधा निज जल धरत॥३॥

तिन पै जेहि छिन चन्द-ज्योति राका निसि आवति।
जल मैं मिलिकै नभ अवनी लौं तान तनावति ॥
होत मुकुरमय सबै तबै उज्ज्वल इक ओभा।
तन मन नैन जुड़ावति देखि सुन्दर सो सोभा॥
सो को कवि जो छबि कहि सकै ता छन जमुना-नीर की।
मिलि अवनि और अम्बर रहत छबि इक सी नभ तीर की ॥४॥
परत चन्द्र-प्रतिबिम्ब कहूँ जल मधि चमकायो।
लोल लहर लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो॥
मनु हरि-दरसन हेत चन्द जल बसत सुहायो।
कै तरंग कर मुकुर लिये सोभित छबि छायो ॥
कै रास रमन में हरि-मुकुट-आभा जल दिखरात है।
कै जल-उर हरि मूरति बसति वा प्रतिबिम्ब लखात है ॥५॥
कबहुँ होत सत चन्द कबहुँ प्रगटत दुरि भाजत।
पवन गवन बस बिम्ब रूप जल में बहु साजत ॥
मनु ससि भरि अनुराग जमुन जल लोटत डोलै।
कै तरंग की डोर हिंडोरन करत किलोलैं ॥
कै बाल गुड़ी नभ में उड़ी सोहत इत उत धावती।
कै अवगाहत डोलत कोऊ ब्रज-रमनी जल आवती ॥६॥
मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटि जात जमुन-जल।
कै तारागन ठगन लुकत प्रगटत ससि अविकल ॥
कै कालिन्दी नीर तरंग जितो उपजावत।
तितनो ही धरि रूप मिलन हित तासों धावत ॥

कै बहुत रजत चकई चलत कै फुहार जल उच्छरत।
कै निसिपति मल्ल अनेक विधि उठि बैठत कसरत करत ॥७॥

कूजत कहुँ कलहंस कहूँ मज्जत पारावत।
कहुँ कारंडव उड़त कहूँ जलकुक्कुट धावत॥
चक्रवाक कहुँ बसत कहूँ बक ध्यान लगावत।
सुक पिक जल कहुँ पियत कहूँ भ्रमरावलि गावत॥
कहुँ तट पर नाचत मोर बहु रोर विविध पंछी करत।
जलपान न्हान कर सुख भरे तट-सोभा सब जिय धरत ॥८॥

पतिव्रता-धर्म

जग में पतिव्रत सम नहिं आन।
नारि हेतु कोउ धर्म न दूजो जग में यासु समान ॥
अनसूया सीता सावित्री इनके चरित प्रमान।
पति देवता तीय जग धन धन गावत वेद पुरान ॥
धन्य देस कुल जहँ निवसत हैं नारी सती सुजान।
धन्य समय जब जन्म लेत ये धन्य व्याह अस्थान॥
सब समर्थ पतिव्रता नारी इन सम और न आन।
या ही ते स्वर्गहु में इनको करत सबै गुन गान ॥

श्रीधर पाठक

पाठक जी का जन्म संवत् १९१६ में आगरा जिले के जोंधरी नामक ग्राम में हुआ था। बालपन से ही आपकी बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी। पढ़ने-लिखने में आप सदा आगे रहते थे। एँट्रेंस परीक्षा पास करने के बाद आपने सरकारी नौकरी कर ली और अपने अध्यवसाय और योग्यता के बल पर बहुत ऊँचे पद पर पहुँचे। अच्छी अंग्रेजी लिखने में आप बहुत कुशल समझे जाते थे।

आपकी रचना खड़ीबोली और ब्रजभाषा दोनों में मिलती है। खड़ीबोली के श्रेष्ठ कवियों में आपकी गणना की जाती है। आपकी खड़ीबोली में ब्रजभाषा की सी माधुरी मौजूद है और ब्रजभाषा में खड़ीबोली का सा खड़ापन। गोल्डस्मिथ के Hermit का अनुवाद 'एकान्तवासी

योगी' और 'Traveller' का अनुवाद 'श्रान्त पथिक' आपकी खड़ी-बोली की सुन्दर रचनाएं हैं और Deserted Village का अनुवाद 'ऊजड़ गाम' और कालिदास के 'ऋतुसंहार' का अनुवाद आपकी व्रजभाषा की रचनाएं हैं। 'भारत-गीत' में मातृभाषा, मातृभूमि और समाज की प्रतिष्ठा के सूचक जो आपके फुटकर पद मिलते हैं वे हमारी स्थाई सम्पत्ति हैं। आप प्रकृति-सौंदर्य के बहुत प्रेमी थे; 'काश्मीर-सुखमा' और 'देहरादून' में आपने उसके बहुत सुन्दर चित्र खींचे हैं। व्याकरण की दृष्टि से आपकी खड़ीबोली की रचनाओं में कुछ थोड़े दोष आगये हैं किन्तु जब हम उनकी माधुरी पर ध्यान देते हैं तो वे नगण्य से प्रतीत होने लगते हैं। आपकी योग्यता और हिन्दी-प्रेम से प्रेरित होकर हिन्दी साहित्य संमेलन ने अपने लखनऊ के अधिवेषण में आपको सभापति चुना था।

संवत् १९८५ आपका निधनकाल है।

सुसंदेश

अहो छात्र वर वृंद, नव्य-भारत-सुत प्यारे ।
मातृ गर्व-सर्वस्व मोद-प्रद, गोद-दुलारे ॥
अहो भव्य भारत भविष्य निशि के उजियारे ।
शुभ आशा विश्वास व्योम के रवि, विधु, तारे ॥
गृह-जीवन-नव-ज्योति, प्रेम के प्रकृत स्रोत तुम ।
विनय-शील उद्योत, जगत के सुकृत-स्रोत तुम ॥
मातृ-भूमि के प्राण, मातृ-सुख-संप्रदान तुम ।
मातृ-सत्त्व संत्राण-कुशल, भुज-बल-निधान तुम ॥
आर्य-वंश-अक्षय-वट के अभिनव प्रवाल तुम ।
आर्य-संत-जीवन-पट के सुठि तंतु-जाल तुम ॥
आर्य-वर्ण-आश्रम-उपवन के फल रसाल तुम ।
आर्य-कीर्ति-तन्त्री-गुण के स्वर, शब्द, ताल तुम ॥
निज-सुजन्म-संतति-सरोज-वन के मृणाल तुम ।
मानव-कुल-मानस-ह्रद के मंजुल मराल तुम ॥

जग·सुकृत्य·रत भारत के सौभाग्य·भाल तुम।
प्रिय स्वदेश अंतर आत्मा के अन्तराल तुम॥
सुरुचि, सुवृत्ति, सुतेज, सुप्रेरित-मति-विशाल तुम।
सुघर सुपूत सुमाता के लाडले लाल तुम॥
भारत·लाज·जहाज·सुदृढ़·सुठि-कर्णधार तुम।
भारति·कंठ·विहार·विशद·मंदार·हार तुम॥
निज-अभिरुचि·निज·भाषा·भूषा-भेष-विधाता।
निज सत्ता, निज पौरुष, निज स्वत्वों के त्राता॥
निज·परता-भ्रम-रहित करौ निज हित·विचार तुम।
हित-परता·क्रम·सहित करौ पर-हित-प्रचार तुम॥
सत·सेवा·व्रत धार जगत के हरौ क्लेश तुम।
देश-देश में करौ प्रेम का अभिनिवेश तुम॥
इस विधि से निस्संग करौ सेवा·प्रसंग तुम।
फिर·फिर पर·हित·हेतु भरौ उर में उमंग तुम॥
सब विधि यों युव-वृंद बनौं नर-प्रवर वंध तुम।
त्यों हरि-पद·अरविंद·भ्रमर, भुवि समभिनंद्य तुम॥

देश-गीत

जय जय प्यारा भारत-देश।

(१)

जय जय प्यारा, जग से न्यारा
शोभित सारा, देश हमारा,

जगत-मुकुट जगदीश-दुलारा,
जग सौभाग्य, सुदेश।
जय जय प्यारा भारत-देश।

(२)

प्यारा देश, 'जय देशेश,
अजय अशेष, सदय विशेष,
जहाँ न संभव अघ का लेश,
संभव केवल पुण्य-प्रवेश।
जय जय प्यारा भारत-देश।

(३)

स्वर्गिक शीश-फूल पृथ्वी का,
प्रेम-मूल, प्रिय लोकत्रयी का,
सुललित प्रकृति-नटी का टीका,
ज्यों निशि का राकेश।
जय जय प्यारा भारत-देश।

(४)

जय जय शुभ्र हिमाचल-शृंगा,
कल-रव-निरत कलोलिनि गंगा,
भानु-प्रताप-चमत्कृत अंगा ,
तेज-पुंज तप-वेश।
जय जय प्यारा भारत-देश।

(५)

जुग में कोटि·कोटि जुग जीवै,
जीवन-सुलभ अमी·रस पीवै,
सुखद वितान सुकृत का सीवै,
रहे स्वतंत्र हमेश ।
जय जय प्यारा भारत-देश ।

सान्ध्य अटन

(१)

विजन वन-प्रांत था,
प्रकृति-मुख शांत था,
अटन का समय था,
रजनि का उदय था,
प्रसव के काल की लालिमा में लिहसा,
बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा ।
सद्य·उत्फुल्ल·अरविंद·निभ नील सुवि·
शाल नभ-वक्ष पर जा रहा था चढ़ा;
दिव्य दिङ्-नारि की गोद का लाल-सा ।
या प्रखर भूख की यातना से प्रहित
पारणा·रक्त-रस·लिप्सु अन्वेषणा-

युक्त या क्रीड़नासक्त, मृगराज-शिशु,
या अतिव क्रोध-संतप्त जर्मन्य नृप-
सा; कि या अभ्र-बैलून-उर में छिपा
इंद्र, या इंद्र का छत्र, या ताज, या
स्वर्ग्य गजराज के भाल का साज, या
कर्ण-उत्ताल, या स्वर्ण का थाल-सा।
कभी यह भाव था, कभी वह भाव था;
देखने का चढ़ा चित्त में चाव था।

(२)

विजन वन शांत था,
चित्त अभ्रांत था
रजनि-आनन अधिक
हो रहा कांत था—
स्थान-उत्थान के साथ ही चंद्र-मुख
भी समुज्ज्वल लगै था अधिकतर भला।

(३)

उस विमल बिंब से अनति ही दूर, उस
समय एक व्योम में बिंदु-सा लख पड़ा—
स्याह था रंग कुछ गोल-गति डोलता,
किया अति रंग में भंग उसने खड़ा;
उतरते-उतरते आ रहा था उधर
जिधर को शून्य सुनसान थल था पड़ा;
आम के पेड़ से थी जहां दीखती
प्रेम आलिंगिता मालती की लता।

(४)

बस, उसी वृक्ष के सीस की ओर कुछ
खड़खड़ाकार एक शब्द-सा सुन पड़ा;
साथ ही पंख की फड़फड़ाहट, तथा
शत्रु निःशंक की कड़कड़ाहट, तथा
पक्षियों में पड़ी हड़बड़ाहट, तथा
कंठ औ चोंच की चड़चड़ाहट, तथा
आर्ति-युत कातर-स्वर, तथा शीघ्रता-
युत उड़ाहट-भरा दृश्य इस दिव्य-छवि-
लुब्ध-दृग-युग्म को घृणित अति दिख पड़ा।
चित्त अति चकित, अत्यन्त दुःखित हुआ॥

काश्मीर-वर्णन

(१)

धनि धनि श्रीकाश्मीर-धरनि मन-हरनि सुहावनि।
धनि कश्यप-जस-धुजा, विश्व-मोहिनि मन-भावनि॥
धन्य आर्य-कुल-धर्म-परम-प्राचीन-पीठ-थल ।
धन्य सारदा-सवनि अवनि, त्रैलोक्य-पुन्य-फल॥

(२)

धन्य पुरातन प्रथित धाम, अभिराम अतुल छवि।
स्वर्ग-सहोदरि धरनि, बरनि हारे कोविद कवि॥
प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप सँवारति।
पल-पल पलटति भेस छनिक छवि छिन छिन धारति॥

(३)

विमल-अम्बु-सर-मुकुरन महँ मुख-बिम्ब निहारति।
अपनी छवि पै मोहि आपहि तन मन वारति॥
सजति, सजावति, सरसति, हरसति, दरसति प्यारी।
बहुरि सराहति भाग पाय सुठि चित्तर-सारी॥

(४)

विहरति विविध-विलास-भरी जोबन के मद सनि।
ललकति, किलकति, पुलकति, निरखति, थिरकति बनि ठनि॥
मधुर मंजु छवि-पुंज-छटा छिरकति बन-कुंजन।
चितवति, रिझवति, हँसति, डसति, मुसक्याति, हरति मन॥

(५)

यहँ सुरूप सिंगार रूप धरि-धरि बहु भाँतिन।
सर, सरिता, गिरि, सिखर, गगन, गह्वर, तरुवर, तृन॥
पूरन करिबे काज कामना अपने मन की।
किंकरता करि रह्यौ प्रकृति-पंकज-चरनन की॥

(६)

चहुँ दिसि हिमगिरि-सिखर, हीर-मनि मौलि-अवलि मनु।
स्रवत सरित-सित-धार, द्रवत सोइ चन्द्रहार जनु॥
फल फूलन छवि छटा छई जो वन उपवन की।
उदित भई मनु अवनि-उदर सों, निधि रतनन की॥

(७)

तुहिन-सिखर, सरिता, सर, विपिनन की मिलि सो छवि ।
छई मंडलाकार, रही चारहुँ दिसि यों फवि ॥
मानहु मनिमय मौलि-माल-आकृति अलबेली ।
बाँधी विधि अनमोल गोल भारत-सिर सेली ॥

(८)

सुरपुर अरु कश्मीर दोउन में को है सुन्दर ?
को सोभा कौ भौन रूप कौ कौन समुन्दर ?
काकों उपमा उचित दैन दोउन में काकी ?
याकों सुरपुर की अथवा सुरपुर कौं याकी ?

(९)

याकौं उपमा याही की मोहि देत सुहावै ।
या सम दूजौ ठौर सृष्टि में दृष्टि न आवै ॥
यही स्वर्ग सुरलोक, यही सुर-कानन सुन्दर ।
यहि अमरन कौ ओक, यहीं कहुँ बसत पुरन्दर ॥

(१०)

सो श्रीधर-दृग बसी प्रेम-अम्बुद-रस-दैनी ।
पुन्य-अवनि सुख-सवनि, अलौकिक-सोभा-सैनी ॥
जैसु यथारथ महिमा नहिं मोहि शक्ति बखानन ।
सहसा नहिं कहि सकहिं रुकहिं सहसन सहसानन ॥

(११)

कवि-गन कौं कल्पना-कल्प-तरु काम-धेनु सी।
मुनियन कौं तप-धाम, ब्रह्म-आनन्द-ऐनु सी ॥
रसिकन कौं रस-थान, प्रान, सर्वस, जीवन, धन।
प्रकृति-प्रेमिनी कौं सुकेलि-क्रीड़ा-कलोल-बन ॥

वन-शोभा

चारु हिमाचल-आँचल में,
एक साल विसालन कौ वन है।
मृदु मर्मर शील झरैं जल-स्रोत हैं,
पर्वत ओट है निर्जन है॥
लिपटे हैं लताद्रुम, गान में लीन,
प्रवीन विहंगन कौ गन है।
भटक्यौ तहाँ रावरो भूल्यौ फिरै,
मद बावरो सौ अलि को मन है॥
भारत में वन ! पावन तू ही,
तपस्वियों का तप-आश्रम था
जग तत्त्व की खोज में लग्न जहाँ,
ऋषियों ने अभग्न किया श्रम था॥
जब प्राकृत विश्व का विभ्रम और
था, सात्विक जीवन का क्रम था॥
महिमा वन-वास की थी तब और,
प्रभाव पवित्र अनूपम था॥

जगत-सचाई-सार

समझ के सारे जग को मिट्टी, मिट्टी जो कि रमाता है।
मिट्टी करके सर्वस अपना, मिट्टी में मिल जाता है॥
कभी नहीं ऐसा मूरख नर, सार सृष्टि का पाता है।
जैसा ही आया था जग में, वैसा ही वह जाता है॥
इस शरीर से जो मनुष्य नहिं, कुछ भी लाभ उठाता है।
उससे तो वह पशू भला जो काम सैकड़ों आता है॥
उसका जन्म व्यर्थ है जो नर पौरुष कुछ न दिखाता है।
न इस लोक, ना उसी लोक में, हाथ उसे कुछ आता है॥
ऐसा कायर तो पृथ्वी को वृथा भार पहुँचाता है।
अपना जीना ही जिसको एक बड़ा बोझ हो जाता है॥
जो तन मन से करता है श्रम, उचित रीति से चलता है।
सारी वसुधा का क्रम-क्रम से, सर्वस उसको मिलता है॥
हाथ पैर और आँख कान, बुद्धी से काम जो लेता है।
जीवन का सुख पाता है वह, औरों को सुख देता है॥
पुत्र, कलत्र, मित्र, बांधव में, फैलाकर सच्चा आनन्द।
काम जगत का करता है वह, रहता है सुख से स्वच्छन्द॥
दुख कब ऐसे पुरुष-सिंह के पास फटकने पाता है।
वह तो आलस का साथी है, आलसियों पर जाता है॥
जब तक तुम इस जग में सच्ची धर्म-रीति पर चलते हो।
तब तक निस्संदेह निरंतर, सब बातों में फलते हो॥
सारा सांसारिक सुख पाकर ईश्वर को पहिचानो हो।
उनकी विद्यमानता, सत्ता, वस्तुमात्र में जानो हो॥

रचा उसी का है जब यह जग, निश्चय उसको प्यारा है।
इसमें दोष लगाना अपने लिए दोष का द्वारा है॥

*   *   *   *

जगत को झूठा-झूठा कह के करो नहीं उसका अपमान।
बुद्धि को अपने काम में लाओ, हे मनुष्य, हे बुद्धिनिधान॥
जिसको तुम जानो यह दुख है, सहो उसे धीरज के साथ।
दुख में सुख का अनुभव करना, है मनुष्य के अपने हाथ॥
दुख तो मनुष्य के जीवन की एक कसौटी है मानो।
इसमें जैसा रहे रंग, वैसा ही भाव उसका जानो॥
काम क्रोध अरु लोभ मोह भी जीवन के सहयोगी हैं।
इनके वश में जो पड़ता है उसी के ये प्रतियोगी हैं॥
इनको जो अपने मन से जड़ मूल मिटाना चाहे।
वे असमर्थ कभी न, जगत का सत उद्देश्य निबाहे हैं॥
जैसा यह जग बना हुआ है वैसा इसको पहचानो।
ईश्वर की व्यापकता इसमें सभी ठौर प्यारे जानो॥
देख-देख उसकी महिमा, गुण निशि-वासर उसके गाओ।
अर्थ धर्म अरु काम मोक्ष पाने में पौरुष दिखलाओ॥
रूप जगत का यथार्थ देखो, पड़ो भूल में कभी न तुम।
जीवन के कर्त्तव्य निबाहो, समझ के उसके शुद्ध नियम॥
चलोगे सच्चे मन से जो तुम निर्मल नियमों के अनुसार।
तो अवश्य प्यारे जानोगे सारा जगत-सचाई-सार॥

——

नाथूराम शंकर

पं० नाथूराम शंकर का जन्म सं० १९१६ में हरदुआगंज जिला अलीगढ़ में हुआ था। उनके पिता का नाम रूपराम शर्मा था। हिन्दी संस्कृत के अतिरिक्त वे कुछ अंगरेज़ी और उर्दू भी जानते थे। पाँच-छः वर्ष तक उन्होंने नहर विभाग में नौकरी की फिर उसे छोड़ कर वैद्यक से ही अपनी आजीविका चलाने लगे। यह वैद्यक ही उनका आजीवन व्यवसाय रहा। वैद्य-मण्डल में वे एक पीयूषपाणि वैद्य समझे जाते थे। वे द्विवेदी-धारा के अच्छे कवि थे। द्विवेदी जी ने 'कविताकल्प' में जिन पाँच कवियों की कविता का संग्रह किया है, उनमें वे भी एक हैं। उनकी कुछ कविता उर्दू में भी मिलती है।

शंकर की कविता व्रजभाषा में आरम्भ होती है और खड़ीबोली में समाप्त। उनका अधिकार दोनों भाषाओं पर समान था। वे शब्दों से

खलते थे, किन्तु कहीं-कहीं मन माने ढंग से। आर्यसमाज का उनके जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा था। उनका काल आर्यसमाज का उत्क्रान्ति काल था। उन्होंने जितनी कविता की है, प्रायः सब की सब सामाजिक विषयों पर। सब में समाज के उद्धार का ही उपदेश मिलता है। उपदेश देते समय उनका रूप अत्यन्त रुद्र हो जाता है। 'कान्तासम्मित' 'हितञ्च मनोहारि' वचन का उपदेश करना कवि का लक्ष्य होना चाहिए। हमारे शंकर इसका ठीक-ठीक पालन नहीं कर पाये। उनके शब्दों का गठन उनके रुद्र होने की स्थान-स्थान पर साक्षी देता है। उनकी कविता में अतिशयोक्ति की भी मात्रा बहुत अधिक है जो स्वाभाविकता से बहुत आगे लाँघ गई है। किन्तु इतना होने पर भी उनकी कविता कवित्व गुण से खाली नहीं। वे एक कवि थे और प्रतिभाशाली कवि। उन्होंने घनाक्षरी छन्द में खड़ीबोली की कविता करने की नींव रखी है।

अनुराग-रत्न, वायस-विजय, शंकर-सरोज, गर्भरण्डा-रहस्य आदि उनकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं।

सं० १९८८ उनका मृत्युकाल है।

निदाघ-निदर्शन

(१)

बीते दिन बसन्त ऋतु भागी।
गरमी उग्र कोप कर जागी॥
ऊपर भानु प्रचण्ड प्रतापी।
भू पर भबके पावक पापी॥
आतप बात मिले रस-रूखे।
झाबर झील सरोवर सूखे॥
जिन पूरी नदियों में जल है।
उनमें भी काँदा दल दल है॥

(२)

अवनीतल में तीत नहीं है।
हिम-गिरि पै भी शीत नहीं है॥
पूरा सुमन-विकास नहीं है।
और लहलही घास नहीं है॥

गरम-गरम आँधी आती है।
भूभल बरसाती जाती है॥
झाँखर झाड़ रगड़ खाते हैं।
आग लगे वन जल जाते हैं॥

(३)

दीपक-ज्योति जहाँ जगती है।
चमक चञ्चला-सी लगती है॥
व्याकुल हम न वहाँ जाते हैं।
जाकर क्या कुछ कर पाते हैं॥
ग्राम-ग्राम प्रत्येक नगर में।
घूमे घोर ताप घर-घर में॥
रुद्र-रोष दिनकर के मारे।
तड़प रहे नारी नर सारे॥

(४)

भीतर बाहर से जलते हैं।
अकुला कर पंखे झलते हैं॥
स्वेद बहे, तन डूब रहा है।
घबराते, मन ऊब रहा है॥
काल पड़ा नगरों में जल का।
मोल मिले उष्णोदक नल का॥
वह भी कुछ घंटों बिकता है।
आगे तनिक नहीं टिकता है॥

(५)

पावक-बाण दिवाकर मारे।
हा! बड़वानल फूँक पजारे॥
खौल उठे नद सागर सारे।
जलते हैं जल-जन्तु बिचारे॥
भानु-कृपा न कढ़े वसुधा से।
चन्द्र न शीतल करे सुधा से॥
धूप हुताशन से क्या कम है।
हा! चाँदनी रात गरम है॥

(६)

जंगल गरमी से गरमाया।
मिलती कहीं न शीतल छाया॥
घमस घुसी तरु-पुञ्जों में भी।
निकले भबक निकुञ्जों में भी॥
सुन्दर वन, आराम घने हैं।
परम रम्य प्रासाद बने हैं॥
सब में उष्ण बयार बहती है।
घाम घमस घेरे रहती है॥

(७)

विधि! यदि वापी, कूप न होते।
तो क्या हम सब जीवन खोते?

पर पानी उनमें भी कम है।
अब क्या करें नाक में दम है॥
कभी कभी घन रुप जाता है।
वृषारूढ़ रवि छुप जाता है॥
जो जल बादल से झड़ता है।
तो कुछ काल चैन पड़ता है॥

(८)

पान करें पाचक जल-जीरा।
चखते रहें फुलाय कतीरा॥
बरफ़ गलाय छने ठंढाई।
औषधि पर न प्यास की पाई॥
बँगलों में परदे खस के हैं।
बार-बार रस के चसके हैं॥
सुखिया सुख-साधन पाते हैं।
इतने पर भी अकुलाते हैं॥

(९)

खलियानों पर दांय चलाना।
फिर अनाज, भूसा बरसाना॥
पूरा तप किसान करते हैं।
तो भी उदर नहीं भरते हैं॥
हलवाई, भुरजी, भटियारे।
सोनी भगत, लुहार बिचारे॥

नेक न गरमी से डरते हैं।
अपने तन फूँका करते हैं॥

(१०)

हा ! वायलर की आग पजारे।
झपटे झाय लपक लू मारे॥
उड़ती भूभल फाँक रहे हैं।
जलते इञ्जन हाँक रहे हैं॥
भानु ताप उपजावे जिस को।
वह ज्वाला न जलावे किस को॥
व्याकुल जीव-समूह निहारे।
हाय ! हुतासन से सब हारे॥

(११)

जब दिन पावस के आवेंगे।
वारि बलाहक बरसावेंगे॥
तब गरमी नरमी पावेगी।
कुछ तो ठंढक पड़ जावेगी॥
भाट बने कालानल रवि का।
ऐसा साहस है किस कवि का॥
'शंकर' कविता हुई न पूरी।
जलती भुनती रही अधूरी॥

प्रशस्त पाठ

कब कौन अगाध पयोनिधि के,
उस पार गया जलपान बिना।
मिल प्राण, अपान, उदान, रहें,
तन में न समान सव्यान बिना॥
कहिये ध्रुव ध्येय मिला किसको,
अविकल्प अचञ्चल ध्यान बिना।
'कवि शङ्कर' मुक्ति न हाथ लगी,
भ्रम-नाशक निर्मल ज्ञान बिना॥
पढ़ पाठ प्रचण्ड प्रमाद भरे,
कपटी जन जन्म गमाय गये।
रण रोप भयानक आपस में,
यह केवल पाप कमाय गये॥
धन, धाम बिसार धरातल में,
धनवान असंख्य समाय गये।
'कवि शङ्कर' सिद्ध मनोरथ की,
जड़ शुद्ध सुबोध जमाय गये॥
निगमागम तन्त्र पुरान पढ़े,
प्रतिवाद प्रगल्भ कहाय खरे।
रच दम्भ प्रपञ्च प्रसार घने,
बन वञ्चक वेश अनेक धरे॥

त्रिचरे कर पान प्रमाद सुरा,
अभिमान हलाहल खाय भरे।
'कवि शङ्कर' मोह महोदधि को,
बकराज विवेक बिना न तरे॥
गुरुगौरव-हीन कुचाल चलैं,
मतभेद पसार प्रपञ्च रचैं।
दिन रात मनोमुख मूढ़ लड़ैं,
चहुँ ओर घने घमसान मचैं॥
व्रत बन्धन के मिस पाप करैं,
हठ छोड़ न हाय लबार लचैं।
'कवि शङ्कर' मोह महासुर से,
बिरले जन पाय विवेक बचैं॥
तन सुन्दर रोग-विहीन रहै,
मन त्याग उमंग उदास न हो।
मुख धर्म-प्रसंग प्रकाश करे,
नर-मण्डल में उपहास न हो॥
धन की महिमा भरपूर मिली,
प्रतिकूल मनोज विलास न हो।
'कवि शङ्कर' यह उपभोग वृथा,
पटुता प्रतिभा यदि पास न हो॥
जिस पै करतूत चली न किसी,
नर, किन्नर, नाग, सुरासुर की।

बल, साहस के फल से न भिड़ी,
हठ भीरु, भगोड़ भयातुर की॥
गति उद्यम के मग में न रुकी,
अति उच्च उमंग भरे उर की।
'कवि शङ्कर' पै बिन ज्ञान उसे,
प्रभुता न मिली प्रभु के पुर की॥
कुलबोर कठोर महा कपटी,
कब कोमल कर्म कलाप करें।
पशु पोच प्रचण्ड प्रमाद भरे,
भर पेट भयानक पाप करें॥
प्रण रोप लड़ें लघु आपस में,
तज बैर न मेल मिलाप करें।
'कवि शङ्कर' मूढ़ विवेक बिना,
अपना गल-बन्धन आप करें॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय (हरिऔध)

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय का जन्म सं० १९२२ में आज़मगढ़ ज़िले के निज़ामाबाद नाम के एक कसबे में हुआ था। वर्नाक्यूलर मिडिल परीक्षा पास करने के बाद आप क्वींस कालेज बनारस में दाखिल हुए किन्तु स्वास्थ्य अच्छा न रहने के कारण उसे छोड़ कर घर पर ही चार-पाँच वर्ष तक अंगरेज़ी, फारसी और संस्कृत का सतत अभ्यास करते रहे। दो-तीन वर्ष अपने यहाँ के ही स्कूल में अध्यापन कार्य करने के बाद आप कानूनगो के पद पर नियुक्त हो गये। लगभग ३२ वर्ष तक यह सरकारी नौकरी की, इसके बाद पेंशन पाने लगे। साहित्य से आपको आरम्भ से ही रुचि रही है। अंगरेज़ी, फारसी, संस्कृत, उर्दू, हिन्दी, बङ्गला—इन सब भाषाओं के काव्य साहित्य का आपने बहुत अच्छा अध्ययन किया है। खड़ी-

बोली और ब्रजभाषा पर आपका एक सा अधिकार है। खड़ीबोली की कविता के आपने कई रूप बाँधे हैं, किसी पर उर्दू रंग गालिब है, कहीं संस्कृत की छटा विराजती है और कहीं ठेठ हिन्दी का ठाट।

'प्रियप्रवास' आपकी संस्कृत के ढंग की अनूठी महा-काव्य रचना है। उसमें आपका विरह-वर्णन और श्रीकृष्ण के पवित्र चरित्र का चित्रण अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। प्रकृति सुन्दरी के भी आपने बहुत सुन्दर सजीव चित्र खींचे हैं। 'चुभते चौपदे' 'चोखे चौपदे' 'बोल चाल' आपकी उर्दू के ढंग की सुन्दर महावरेदार रचनाएं हैं। 'अधखिला फूल' नाम का एक उपन्यास भी आपने लिखा है। ठेठ हिन्दी का ठाट संस्कृत और फारसी के शब्दों से अछूती एक गद्य रचना है। 'रसकलस' आपकी नवरसों पर एक नवीन रचना है। 'पद्यप्रसून' और 'कल्पलता' आपकी फुटकर कविताओं का संग्रह हैं। आपकी इन सब रचनाओं का एक विशेष स्थान है। इस ढंग की अन्य रचनाएं हिन्दी जगत में और कहीं नहीं मिलतीं। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति पद को आप दो बार सुशोभित कर चुके हैं और आपको 'प्रियप्रवास' रचना पर मङ्गलाप्रसाद पारितोषक भी मिल चुका है। आजकल आप हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिन्दी अध्यापन का कार्य कर रहे हैं।

विबोधन

खुले न खोले नयन, कमल फूले, खग बोले;
आकुल अलि-कुल उड़े, लता-तरु-पल्लव डोले।
रुचिर रंग में रँगी उमगती ऊषा आई;
हँसी दिग्वधू, लसी गगन में ललित लुनाई।
दूब लहलही हुई पहन मोती की माला;
तिमिर तिरोहित हुआ, फैलने लगा उँजाला।
मलिन रजनिपति हुए, कलुष रजनी के भागे;
रंजित हो अनुराग-राग से रवि अनुरागे।
कर सजीवता दान वही नवजीवन धारा;
बना ज्योतिमय ज्योति-हीन जन-लोचन-तारा।
दूर हुआ अवसाद गात गत जड़ता भागी;
वहा कार्य का स्रोत, अवनि की जनता जागी।

निज मधुर उक्ति वर विभा से है उर-तिमिर भगा रही;
जागो जागो भारत सुअन, है जगजननि जगा रही।

बाल-लीला

(१)

जननि-मानस पुण्य-पयोधि में,
लहर एक उठी सुख-मूल थी।
वह सु-वासर था व्रज के लिये,
जब चले घुटनों ब्रज-चन्द थे ॥१॥

उमगते जननी मुख देखते,
किलकते हँसते जब लाड़िले।
अजिर में घुटनों चलते रहे,
वितरते तब मोद अपार थे ॥२॥

विमल व्योम-विराजित चंद्रमा,
सदन शोभित दीपक की शिखा।
जननि अंक विभूषण के लिये,
परम कौतुक की प्रिय-वस्तु थी ॥३॥

नयन रंजन अंजन मंजु सी,
जब कभी रज श्यामल गात की।
जननि थीं कर से निज पोंछती,
उलहती तब वेलि विनोद थी ॥४॥

जब कभी कुछ लेकर पाणि में,
वदन में ब्रजनन्दन डालते।

चकित-लोचन से अथवा कभी,
निरखते जब वस्तु विशेष थे ॥५॥
प्रकृति के नख थे तब खोलते,
विविध ज्ञान मनोहर ग्रंथि को ।
दमकती तब थी द्विगुणी शिखा,
महरि मानस मंजु प्रदीप की ॥६॥
कुछ दिनों उपरान्त ब्रजेश के,
चरण भू पर भी पड़ने लगे ।
नवल नूपुर औ कटि-किंकिणी,
ध्वनित हो उठने गृह में लगी ॥७॥
ठुमुकते गिरते पड़ते हुए,
जननि के कर की उँगली गहे ।
सदन में चलते जब श्याम थे,
उमड़ता तब हर्ष-पयोधि था ॥८॥
क्वणित होकर के कटि-किंकणी,
विदित थी करती इस बात को ।
चकितकारक पण्डित मण्डली,
परम अद्भुत बालक है यही ॥९॥
कलित नूपुर की कल वादिता,
जगत को यह थी जतला रही ।
कब भला न अजीव सजीवता,
परस के पद पंकज पा सके ॥१०

(२)

सरस सुन्दर सावन·मास था,
घन रहे नभ में घिर घूमते।
विलसती बहुधा जिन में रही,
छविवती उड़ती बक·मालिका ॥१॥
घहरता गिरि·सानु समीप था,
बरसता छिति·छू नव वारि था।
घन कभी रवि·अंतिग·अंशु ले,
गगन में रचता बहु चित्र था ॥२॥
नव·प्रभा परमोज्वल·लीक सी,
गति·मती कुटिला·फणिनी·समा।
दमकती दुरती घन·अंक में,
विपुल केलि·कला·खनि दामिनी ॥३॥
विविध·रूप धरे नभ में कभी,
विहरता वर·वारिद·व्यूह था।
बरसता बहु·पावन·वारि था,
वह कभी सरसा करके रसा ॥४॥
सलिल·पूरित थी सरसी हुई,
उमड़ते पड़ते सर·वृन्द थे।
कर·सुप्लावित कूल समस्त को,
सरित थी स·प्रमोद प्रवाहिता ॥५॥

वसुमती पर थी अति·शोभिता,
नवल कोमल·श्याम·तृणावली।
नयन·रंजन थी करती महा,
अनुपमा तरु-राजि·हरीतिमा ॥६॥
हिल, लगे मृदु·मन्द·समीर के,
सलिल·बिन्दु गिरा सुठि अंक से।
मन रहे किसका न विमोहते,
जल·धुले दल·पादप पुंज के ॥७॥
परम-म्लान हुई बहु·बेलि को,
निरख के फलिता अति-पुष्पिता।
सकल के उर में रम सी गई,
सुखद-शासन की उपकारिता ॥८॥
रस·मयी लख वस्तु-असंख्य को,
सरसता लख भूतल·व्यापिनी।
समझ है पड़ता बरसात में,
उदक का रस नाम यथार्थ है ॥९॥

सच्चे वीर

संकटों को तब करे परवाह क्या,
हाथ झंडा जब सुधारों का लिया।
तब भला वह मूसलों को क्या गिने,
जब किसी ने ओखली में सिर दिया ॥१॥

दूसरों को उबार लेते हैं,
एक दो वीर ही विपद में गिर।
पर बहुत लोग पाक बनते हैं,
ठीकरा फोड़ दूसरों के सिर ॥२॥

सामने पाकर विपद की आंधियां,
वीर मुखड़ा नेक कुम्हलाता नहीं।
देखकर आती उमड़ती दुख-घटा,
आंख में आंसू उमड़ आता नहीं ॥३॥

सब दिनों मुँह देख जीवट का जिये,
लात अब कायरपने की क्यों सहें।
क्यों न वैरी को विपद में डाल दें,
हम भला क्यों डालते आंसू रहें ॥४॥

वे कभी बात में नहीं आते,
लग गई है जिन्हें कि सच्ची धुन।
वे भला आप सूख जाते क्या,
मुख न सूखा जवाब सूखा सुन ॥५॥

काल की परवाह वीरों को नहीं,
वह रहे उनको भले ही लूटता।
काम छेड़ा छूटता छोड़े नहीं,
टूटता है दम रहे तो टूटता ॥६॥

पते की बातें

क्यों जम्हाई आ रही है बेतरह,
इस तरह से आँख क्यों है झप रही।
देख लो सब ओर क्या है हो रहा,
बात सुन लो, आँख खोलो तो सही ॥१॥

जाति को है अगर जिला रखना,
तो न मीठी को मान लें खट्टी।
भेद का बांध बांधती बेला,
आँख पर बांध लें न हम पट्टी ॥२॥

जोत में आइये जतन करिये,
जागिये हो रहा सबेरा है।
बन गये हैं इसी लिये अंधे,
आंख के सामने अँधेरा है ॥३॥

हैं बड़े ही कपूत कायर हम,
जो बुरी तेवरियां हमें न खलें।
ठोकरें देख जाति को खाते,
ठीकरी आँख पर अगर रख लें ॥४॥

तो बला यों न बेलती पापड़,
पांव जाता न यों दुखों का जम।
तो न खुल खेलती मुसीबत यों,
जो खुला आंख कान रखते हम ॥५॥

है घड़ा जो नहीं भरा पूरा,
क्यों न तो बार बार वह छलके।
जाति-हित का सवाल कोई भी,
कर सके हल न पेट के हलके ॥६॥

सुन सके बात हित भरी वे ही,
हैं न जो लोग कान के बहरे।
क्यों कहें वे न पेट की बातें,
हैं न जो लोग पेट के गहरे ॥७॥

हम निबल भूल पर बहुत बिगड़े,
पर सबल के सितम हुए न जगे।
लग गये पांव क्यों गये जल भुन,
लग गई क्यों न आग लात लगे ॥८॥

शिक्षा का उपयोग

शिक्षा है सब काल कल्प-लतिका-सम न्यारी;
कामद, सरस महान,सुधा-सिंचित,अति प्यारी।
शिक्षा है वह धरा, बहा जिस पर रस-सोता;
शिक्षा है वह कला, कलित जिससे जग होता।
है शिक्षा सुरसरि-धार वह, जो करती है पूततम;
है शिक्षा वह रवि की किरण, जो हरती है हृदय-तम।
क्या ऐसी ही सुफलदायिनी है अब शिक्षा ?
क्या अब वह है बनी नहीं भिक्षुक की भिक्षा ?

क्या अब है वह नहीं दासता-बेड़ी कसती ?
क्या न पतन के पाप-पंक में है वह फँसती ?
क्या वह सोने के सदन को नहीं मिलाती धूल में ?
क्या बन कर कीट नहीं बसी वह भारत-हित-फूल में ?
प्रतिदिन शिक्षित युवक-वृंद हैं बढ़ते जाते;
पर उनमें हम कहाँ जाति-ममता हैं पाते ?
उनमें सच्चा त्याग कहाँ पर हमें दिखाया;
देश-दशा अवलोक वदन किसका कुम्हलाया ?
दिखलाकर सच्ची वेदना कौन कर सका चित द्रवित;
किसके गौरव से हो सकी भारतमाता गौरवित।
प्यारे छात्र-समूह, देश के सच्चे संबल,
साहस के आधार, सफलता-लता-दिव्य-फल,
आप सबों ने की हैं सब शिक्षाएँ पूरी;
पाया वांछित ओक दूर कर सारी दूरी।
अब कर्म-क्षेत्र है सामने, कर्म करें, आगे बढ़ें;
कमनीय कीर्ति से कलित बन गौरव-गिरिवर पर चढ़ें।
है शिक्षा-उपयोग यही जीवन-व्रत पालें;
जहाँ तिमिर है, वहाँ ज्ञान का दीपक बालें।
तपी भूमि पर जलद-तुल्य शीतल जल बरसें;
पारस बन-बन लौहभूत मानस को परसें;
सब देश-प्रेमिकों की सुनें, जो सहना हो वह सहें;
उनके पथ में काँटे पड़ें, हृदय बिछा देते रहें।

प्रभो, हमारे युवक-वृंद निजता पहचानें;
शिक्षा के महनीय मंत्र की महिमा जानें।
साधन कर-कर सकल सिद्धि के साधन होवें,
जो धब्बे हैं लगे, धैर्य से उनको धोवें।
सब काल सफलताएँ मिलें, सारी बाधाएँ टलें;
व अभिमत फल पाते रहें, चिर दिन तक फूलें-फलें।

शान्ति

प्रबल जिस से हों दानव वृंद,
अबल पर हो बहु अत्याचार;
कुसुम-कोमल उर होवे विद्ध,
धरा पर बहे रुधिर की धार।

सूत्र मानवता का हो छिन्न,
सदयता का हो भग्न कपाल;
लुटे सज्जनता का सर्वस्व,
छिनें सहृदयता-संचित माल।

हरण हो मानवीय अधिकार,
लोक-बल जिससे होवे लुप्त,
आत्म-गौरव का हो संहार,
सकल जातीय भाव हो सुप्त।

दलित हो भव-जन-पूजित भाव,
अनादृत हों अवनी-अवतंस;
जाति-सुख-कल्प-वृक्ष हो दग्ध,
लोक हित नंदन-वन हो ध्वंस।

पाप का होवे ताण्डव नृत्य,
घरों में हो पैशाचिक कांड;
हो दनुज-अट्टहास की वृद्धि,
विलोडित हो जिससे ब्रह्मांड।

है परम दुर्बल चित की वृत्ति,
भ्रांत मन की है भारी भ्रांति;
है अवनितल अशांति की मूल,
शांति वह कभी नहीं है शांति।

मैथिलीशरण गुप्त

अभी पूरे ४० साल ही नहीं बीते कि कविता की भाषा कौन सी होनी चाहिए इस सम्बन्ध में एक भारी विवाद उठा था। इस विवाद के प्रवर्तक थे— हिन्दी के प्राण, आचार्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी। वे हिन्दी को व्यापक रूप देने के लिये चाहते थे कि छोटे से प्रान्त की ब्रजभाषा के स्थान पर आम बोल चाल की भाषा—खड़ीबोली में ही कविता को द्रुतगति दी जाए। उन दिनों द्विवेदी जी के पक्ष की समर्थना करने वाले बहुत ही कम लोग थे, किन्तु वे थे त्र्यम्बक महादेव, उनकी तीसरी आँख खुली थी। वे हिन्दी के भूत और भविष्यत् को देखते थे। उन्होंने अपना हठ न छोड़ा और सरस्वती का सम्पादन कार्य हाथ में लेते ही खड़ीबोली के ढंग की कविता के एक स्कूल की नींव डाली। धीरे धीरे उनकी सत्प्रेरणा पाकर कई प्रतिभावान् युवक उस

स्कूल में भर्ती होगये; ज़ोरों से यह शिक्षा दी जाने लगी । उन नौसिखियों में गुप्त जी सब से आगे थे। द्विवेदी जी के सामने हिन्दी का और भी भारी काम था, वे स्वयं दो-चार अच्छे नमूने देकर और इस स्कूल का सारा भार गुप्त जी के कन्धों पर रख कर आप उससे अलग होगये । गुप्त जी द्विवेदी जी का यह प्रसाद प्राप्त कर सचमुच 'प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्' का उदाहरण प्रमाणित हुए । बस, वह दिन और आज, गुप्तजी तब से उस स्कूल के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हैं । आज तक कवि के नाते जितना लोक-सम्मान इन्हें प्राप्त हुआ है, इस युग के और किसी भी कवि को नहीं प्राप्त हो सका। इनकी कविता की श्रेष्ठता की कसौटी यही 'लोक-प्रियता' है । इस सम्बन्ध में संस्कृत के एक कवि ने बहुत खूब कहा है—

एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्यं,
अन्यस्य गच्छति सुहृद्भवनानि यावत् ।
न्यस्याविदग्धभवनेषु पदानि शश्वत्,
कस्यापि संचरति विश्वकुतूहलीव ॥

सब से नीची श्रेणी के कवि वे होते हैं जिनकी कविता-सुन्दरी अपने घर से बाहर नहीं लाँघ पाती। बीच की श्रेणी के वे कवि हैं जिनकी कविता अपने मित्रवर्ग तक ही पहुँच पाती है किन्तु सब से ऊँची श्रेणी के कवि वे होते हैं जिनकी कविता सारे विश्व के लिये कुतूहल की उत्पादक होती है ।

गुप्त जी की कविता सचमुच सारे हिन्दी जगत् में कुतूहल की वस्तु है । उससे सारे राष्ट्र और हिन्दू समाज को जाग्रति मिली है ।

कविता की भाषा व्याकरण के नियमों पर कसी हुई विशुद्ध खड़ीबोली है और उसके छन्द प्रायः संस्कृत के ढंग के हैं। उन्होंने कुछ नये मौलिक छन्दों की भी सृष्टि की है। राष्ट्र और समाज उनकी ये दो ध्येय वस्तुएं हैं। जो कुछ लिखा है, इन दोनों के उत्थान के लिये, इन दोनों में जाग्रति उत्पन्न करने के लिये। 'भारत-भारती' उनकी पहली रचना है। इसमें हमारे भारत क अतीत और वर्तमान का चित्र खींचा गया है और वह कितना सुन्दर है, इसका प्रमाण है उसकी लोकप्रियता। आज तक उसके १६ संस्करण निकल चुके हैं। 'रंग में भंग' 'किसान' 'वैतालिक' 'स्वदेश संगीत' 'पत्रावली' 'हिन्दू' और 'गुरुकुल' में भी स्वदेश प्रेम का संगीत भरा है।'जयद्रथवध' 'पंचवटी' 'सैरन्ध्री' 'शकुन्तला' 'वकसंहार' 'वन वैभव' 'साकेत' और 'यशोधरा' में आर्य-संस्कृति के उपदेश मिलते हैं। 'चन्द्रहास' 'अनघ' 'तिलोत्तमा' ये उनकी नाटक रचनाएं हैं। बङ्गला के कवि-कोकिल माईकल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाद वध' और नवीनचन्द्र राय के 'प्लासी का युद्ध' का उन्होंने पद्यानुवाद किया है और उसमें पूर्ण सफल हुए हैं। उनकी 'साकेत' रचना पर उन्हें मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक भी मिल चुका है।

गुप्त जी की पुण्य जन्मभूमि चिरगाँव ज़िला झाँसी है। उनके पिता का नाम सेठ श्री रामचरण गुप्त है और जन्म सं० १९४३। उनकी शिक्षा अधिकतर घर पर ही हुई थी। पिता एक अच्छे कवि थे। काव्य करने की प्रवृत्ति उन्हें पिता से ही मिली और उसके लिये प्रोत्साहन मिला द्विवेदी जी से। आप की रहनी अत्यन्त सादा है और स्वभाव अति नम्र। वैष्णव धर्म के अनुयायी होते हुए भी आप परम उदार हैं। सुनते हैं, आप इन दिनों 'हसन हुसैन' पर उदार काव्य-रचना कर रहे हैं। हिन्दी जगत् आप ; पाकर गौरवान्वित हुआ है। उसने आप की पूजा भी खूब की है।

धर्म की दशा

था धर्म-प्राण प्रसिद्ध भारत, बन रहा अब भी वही;
पर प्राण के बदले गले में, आज धार्मिकता रही।
धर्मोपदेश सभा-भवन की भित्ति में टकरा रहा,
आडम्बरों को देखकर आकाश भी चकरा रहा! ॥१॥

बस कागज़ी घुड़दौड़ में है आज इतिकर्त्तव्यता,
भीतर मलिनता हो भले ही, किन्तु बाहर भव्यता।
धनवान ही धार्मिक बने, यद्यपि अधर्मासक्त हैं,
हैं लाख में दो-चार सु-हृदय शेष बगुला-भक्त हैं! ॥२॥

अनुकूल जो अपने हुए वे ही यहां सद्ग्रन्थ हैं;
जितने पुरुष अब हैं यहां उतने समझ लो पन्थ हैं।
यों फूट की जड़ जम गई, अज्ञान आकर अड़ गया,
हो छिन्न भिन्न समाज सारा दीन-दुर्बल पड़ गया ॥३॥

श्रुति क्यों न हो, प्रतिकूल हैं जो स्थल वही प्रक्षिप्त हैं,
विक्षिप्त से हम दम्भ में, आपाद-मस्तक लिप्त हैं!
आक्षेप करना दूसरों पर धर्मनिष्ठा है यहां,
पाखण्डियों ही की अधिकतर अब प्रतिष्ठा है यहां : ॥४॥

हम आड़ लेकर धर्म की अब लीन हैं विद्रोह में,
मत ही हमारा धर्म है, हम पड़ रहे हैं मोह में !
है धर्म बस निःस्वार्थता ही प्रेम जिसका मूल है;
भूले हुए हैं हम इसे कैसी हमारी भूल है ! ॥५॥

जिसके लिए संसार अपना सर्वकाल ऋणी रहा,
उस धर्म की भी दुर्दशा हमने उठा रक्खी न हा !
जो धर्म्म सुख का हेतु है; भव-सिन्धु का जो सेतु है,
देखो, उसे हमने बनाया अब कलह का केतु है !! ॥६॥

उद्देश है बस एक, यद्यपि पथ अनेक प्रमाण हैं--
रुचि-भिन्नतार्थ किये गये जो ज्ञान से निर्माण हैं।
पर अब पथों को ही यहां पर धर्म हैं हम मानते !
करके परस्पर घोर निन्दा व्यर्थ ही हठ ठानते ॥७॥

प्रभु एक किन्तु असंख्य उनके नाम और चरित्र हैं,
तुम शैव,हम वैष्णव,इसी से हा अभाग्य ! अमित्र हैं !
तुम ईश को निर्गुण समझते, हम सगुण भी जानते,
हा ! अब इसीसे हम परस्पर शत्रुता हैं मानते ॥८॥

उत्तरा का अनुरोध

क्षत्राणियों के अर्थ भी सबसे बड़ा गौरव यही—
सज्जित करें पति-पुत्र को रण के लिए जो आप ही।
जो वीर पति के कीर्ति-पथ में विघ्न-बाधा डालतीं—
होकर सती भी वह कहाँ कर्त्तव्य अपना पालतीं?
अपशकुन आज परन्तु मुझको हो रहे, सच जानिए,
मत जाइए सम्प्रति समर में, प्रार्थना यह मानिए।
जाने न दूँगी आज मैं प्रियतम तुम्हें संग्राम में,
उठती बुरी हैं भावनाएँ हाय! इस हृद्धाम में।
है आज कैसा दिन न जानें, देव-गण अनुकूल हों,
रक्षा करें प्रभु मार्ग में जो शूल हों वे फूल हों।
कुछ राज-पाट न चाहिए, पाऊँ न क्यों मैं त्रास ही;
हे उत्तरा के धन! रहो तुम उत्तरा के पास ही।

आश्वासन

श्रीवत्सलाञ्छन विष्णु तब कह कर वचन प्रज्ञा-पगे,
धीरज बँधाकर पाण्डवों को शीघ्र समझाने लगे॥
हरने लगे सब शोक उनका ज्ञान के आलोक में,
कुछ शान्ति देती है बड़ों की सांत्वना ही शोक में॥
"हे हे परन्तप! ताप सहकर चित्त में धीरज धरो,
हे धीर भारत! हो न आरत! शोक को कुछ कम करो।
पड़ता समय है वीर पर ही, भीरु कायर पर नहीं,
दृढ़-भाव अपना विपद में भी भूलते बुधवर नहीं॥

निज जन-विरह के शोक का दुख-दाह कौन न जानता,
पर मृत्यु का होना न जग में कौन निश्चित मानता ?
सहनी नहीं पड़ती किसे प्रिय-विरह की दुस्सह-व्यथा ?
क्या फिर हमें कहनी पड़ेगी आज गीता की कथा ?
आते बुरे दिन बीतने पर मनुज के जग में जहां,
जाते हुए कोई न कोई दुःख दे जाते वहां।
अतएव अब निश्चय तुम्हारे उदय का आरम्भ है,
होगा अधिक अब दुःख क्या ? यह सब दुखों का खम्भ है।
जिस ज्ञान के बल से अनेकों विपद-नद तरते रहे,
जिस ज्ञान के बल से सदा ही धैर्य तुम धरते रहे।
हे बुद्धिमानों के शिरोमणि ! ज्ञान अब वह है कहां ?
अवलम्ब उसका ही तुम्हें लेना उचित है फिर यहां॥
निश्चय विरह अभिमन्यु का है दुःखदायी सर्वथा,
पर सहन करनी चाहिए फिर भी किसी विध यह व्यथा।
रण में मरण क्षत्रिय जनों को स्वर्ग देता है सदा,
है कौन ऐसा विश्व में जीता रहे जो सर्वदा ?
हे वीर, देखो तो, तुम्हें यों देखकर रोते हुए,
है हँस रहे सब शत्रुजन मन में मुदित होते हुए।
क्या इस महा अपमान का, कुछ भी न तुमको ध्यान है ?
क्या ज्ञानियों को भी विपद में त्याग देता ज्ञान है ?
तुम कौन हो, क्या कर रहे हो, क्या तुम्हारा कर्म्म है ?
कैसा समय, कैसी दशा, कैसा तुम्हारा धर्म्म है ?

हे अनघ ! क्या वह विज्ञता भी आज तुमने दूर की ?
होती परीक्षा ताप में ही स्वर्ण के सम शूर की॥
जिस बात से निज वैरियों को स्वल्प-सा भी हर्ष हो,
है योग्य उसका त्याग ही, बाधा न क्यों दुर्द्धर्ष हो।
वह वीर ही क्या, शत्रु का सुख-हेतु हो जो आप ही,
निज शत्रुओं का तो बढ़ाना चाहिए सन्ताप ही।
जिन पामरों ने सर्वदा ही दुःख तुमको है दिया,
षड्यन्त्र रच रचकर अनेकों विभव सारा हर लिया।
उन पापियों के देखते है योग्य क्या रोना तुम्हें ?
निज शत्रु-सम्मुख तो उचित है मुदित ही होना तुम्हें॥
निज सहचरों का शोक तो आजन्म रहता है बना,
पर चाहिए सबको सदा कर्त्तव्य अपना पालना।
हे विज्ञ ! सो सब सोचकर यों शोक में न रहो पड़े,
लो शीघ्र बदला वैरियों से, धैर्य धर कर हो खड़े॥
मारा जिन्होंने युद्ध में अभिमन्यु को अन्याय से,
सर्वस्व मानो है हमारा हर लिया दुरुपाय से।
हे वीरवर ! इस पाप का फल क्या उन्हें दोगे नहीं ?
इस वैर का बदला कहो, क्या शीघ्र तुम लोगे नहीं ?"

गुरु नानक

मिल सकता है किसी जाति को
आत्मबोध से ही चैतन्य;

नानक-सा उद्बोधक पाकर
हुआ पञ्चनद पुनरपि धन्य ।
साधे सिख गुरुओं ने अपने
दोनों लोक सहज-सज्ञान;
वर्तमान के साथ सुधी जन
करते हैं भावी का ध्यान ।
हुआ उचित ही वेदीकुल में
प्रथम प्रतिष्ठित गुरु का वंश;
निश्चय नानक में विशेष था
उसी अकाल पुरुष का अंश ।
सार्थक था 'कल्याण' जनक वह
हुआ तभी तो यह गुरुलाभ;
'तृप्ता' हुई वस्तुतः जननी
पाकर ऐसा धन अमिताभ ।
पाने लगा निरन्तर वय के
साथ बोध भी वह मतिमन्त;
संवेदन आरम्भ और है
आत्म-निवेदन जिसका अन्त ।
आत्मबोध पाकर नानक को
रहता कैसे पर का भान ?
तृप्ति-लाभ करते वे बहुधा
देकर सन्त जनों को दान ।

खेत चरे जाते थे उनके,
गाते थे वे हर्ष समेत—
"भर भर पेट चुगो री चिड़ियो,
हरि की चिड़ियाँ, हरि के खेत !"
निर्भय होकर किया उन्होंने
साम्य-धर्म का यहाँ प्रचार,
प्रीति नीति के साथ सभी को
शुभ कर्मों का है अधिकार।
सारे कर्मकाण्ड निष्फल हैं
न हो शुद्ध मन की यदि भक्ति,
भव्य भावना तभी फलेगी
जब होगी करने की शक्ति।
यदि सत्कर्म नहीं करते हो,
भरते नहीं विचार पुनीत,
तो जप-माला-तिलक व्यर्थ हैं,
उलटा बन्धन है उपवीत।
परम पिता के पुत्र सभी सम,
कोई नहीं घृणा के योग्य,
भ्रातृभाव पूर्वक रह कर सब
पाओ सौख्य-शान्ति-आरोग्य ।

अछूतोद्धार

"इसका भी निर्णय हो जाए,
नहीं अछूत मनुज क्या हाय ?
अपमानित अवनत वे दीन,
क्या पशुओं से भी हैं हीन ?
मरें भले ही वे बेहाल,
तो भी उनकी न हो सँभाल ?

* *

करें अशुचिता सब की दूर,
उनसे घृणा करें सो क्रूर।
जिनके बल पर खड़ा समाज,
रहती है शुचिता की लाज,
उनका त्राण न करना, खेद :
है अपना ही मूलोच्छेद।

नहीं पियूँगा

"नहीं पीयूँगा, नहीं पियूँगा, पय हो चाहे पानी।"
"नहीं पियेगा बेटा, यदि तू तो सुन चुका कहानी।"
"तू न कहेगी तो कह लूँगा मैं अपनी मनमानी;
सुन, राजा वन में रहता था, घर रहती थी रानी !"
"और, हठी बेटा रटता था—नानी-नानी-नानी !"
"बात काटती है तू ? अच्छा, जाता हूँ मैं मानी।"

"नहीं नहीं, बेटा, आ, तू ने यह अच्छी हठ ठानी;
सुनकर ही पीना, सोना मत, नई कहूँ कि पुरानी ?"

राहुल-जननी

चुप रह, चुप रह, हाय अभागे !
रोता है, अब किसके आगे ?

तुझे देख पाते वे रोता,
मुझे छोड़ जाते क्यों सोता ?
अब क्या होगा ? तब कुछ होता,

सोकर हम खोकर ही जागे !
चुप रह, चुप रह, हाय अभागे !

बेटा, मैं तो हूँ रोने को,
तेरे सारे मल धोने को;
हँस तू है सब कुछ होने को,

भाग्य आयंगे फिर भी भागे,
चुप रह, चुप रह, हाय अभागे !

तुझको क्षीर पिलाकर लूँगी,
नयन-नीर ही उनको दूँगी,
पर क्या पक्षपातिनी हूँगी ?

मैंने अपने सब रस त्यागे।
चुप रह, चुप रह, हाय अभागे !

माँ, कह एक कहानी

"मां, कह एक कहानी"।
"बेटा, समझ लिया क्या तूने
मुझको अपनी नानी ?"
"कहती है मुझ से यह चेटी !
तू मेरी नानी की बेटी !
कह मां, कह, लेटी ही लेटी,
राजा था या रानी ?
राजा था या रानी ?
मां कह एक कहानी।"

"तू है हठी मानधन मेरे,
सुन, उपवन में बड़े सवेरे,
तात भ्रमण करते थे तेरे,
जहां सुरभि मनमानी"
"जहां सुरभि मनमानी ?
हां, मां, यही कहानी।"

"वर्ण वर्ण के फूल खिले थे,
झलमल कर हिम-बिन्दु झिले थे,
हलके झोंके हिले-मिले थे,
लहराता था पानी।"
"लहराता था पानी ?
हां, हां, यही कहानी।"

गाते थे खग कल कल स्वर से,
सहसा एक हंस ऊपर से,
गिरा, विद्ध होकर खर-शर से,
हुई पक्ष की हानी ?"
"हुई पक्ष की हानी ?
करुणा-भरी कहानी ।"

चौंक उन्होंने उसे उठाया,
नया जन्म-सा उसने पाया,
इतने में आखेटक आया,
लक्ष्य-सिद्धि का मानी।"
"लक्ष्य-सिद्धि का मानी ?
कोमल-कठिन कहानी।"

"मांगा उसने आहत पक्षी;
तेरे तात किन्तु थे रक्षी,
तब उसने, जो था खग-भक्षी—
हठ करने की ठानी।"
"हठ करने की ठानी ?
अब बढ़ चली कहानी।"

"हुआ विवाद सदय-निर्दय में,
उभय आग्रही थे स्व-विषय में,
गई बात तब न्यायालय में,

सुनी, सभी ने जानी।"
"सुनी सभी ने जानी?
व्यापक हुई कहानी।"

"राहुल, तू निर्णय कर इसका—
न्याय पक्ष लेता है किसका?
कह दे निर्भय, जय हो जिसका।
सुन लूँ तेरी बानी।"
"माँ मेरी क्या बानी?
मैं सुन रहा कहानी।"

"कोई निरपराध को मारे,
तो क्यों अन्य उसे न उबारे?
रक्षक पर-भक्षक को वारे,
न्याय दया का दानी।"
"न्याय दया का दानी?
तूने गुनी कहानी।"

साकेत के कुछ पात्र

कौसल्या

जाओ, तब बेटा! वन ही,
पाओ नित्य धर्म-धन ही
जो गौरव लेकर जाओ,
लेकर वही लौट आओ।

पूज्य-पिता-प्रण रक्षित हो,
मां का लक्ष्य सुलक्षित हो।
घर में घर की शान्ति रहे,
कुल में कुल की कान्ति रहे।
होते मेरे सुकृत कहीं
तो क्यों आती विपद यहीं !
फिर भी हों तो त्राण करें,
देव सदा कल्याण करें।
और कहूं क्या मैं तुमसे,
वन में भी विकसो द्रुम-से।
फिर भी है इतना कहना—
मुनियों के समीप रहना।
जिसे गोद में पाला है,
जो उर का उजियाला है,
बहन सुमित्रे ! चला वही,—
जहां हिंस्र-पशु-पूर्ण मही !
यह गौरव का अर्जन है,
या सर्वस्व-विसर्जन है ?
त्याग मात्र इसका धन है,
पर मेरा मां का मन है।
हा ! मैं कैसे धैर्य धरूं ?
क्या चिन्ता से दग्ध मरूं ?

यदि मैं मर भी जाऊँगी,
तो भी शान्ति न पाऊँगी!

राम

"अच्छा, ये पौधे कहो फलेंगे कब लौं?
हम और कहीं तो नहीं चलेंगे तब लौं?"
"पौधे? सींचो ही नहीं, उन्हें गोड़ो भी,
डालों को चाहो जिधर,उधर मोड़ो भी।"
"पुरुषों को तो बस राजनीति की बातें!
नृप में, माली में काट-छांट की घातें।
प्राणेश्वर, उपवन नहीं, किन्तु यह वन है,
बढ़ते हैं विटपी जिधर चाहता मन है।
बन्धन ही का तो नाम नहीं जनपद है?
देखो कैसा स्वच्छन्द यहां लघु नद है,
इसको भी पुर में लोग बांध लेते हैं।"
"हां वे इसका उपयोग बढ़ा देते हैं"
"पर इससे नद का नहीं, उन्हीं का हित है,
पर बन्धन भी क्या स्वार्थ-हेतु समुचित है?"
"मैं तो नद का परमार्थ इसे मानूँगा,
हित उसका उससे अधिक कौन जानूँगा?
जितने प्रवाह हैं, बहें—अवश्य बहें वे,
निज मर्यादा में किन्तु सदैव रहें वे

केवल उनके ही लिए नहीं यह धरणी,
है औरों की भी भार-धारिणी-भरणी।
जनपद के बन्धन मुक्ति-हेतु हैं सब के,
यदि नियम न हों, उच्छिन्न सभी हों कब के।
जब हम सोने को ठोक-पीट गढ़ते हैं,
तब मान, मूल्य, सौन्दर्य, सभी बढ़ते हैं।
सोना मिट्टी में मिला खान में सोता,
तो क्या इससे कृतकृत्य कभी वह होता ?"

* * *

"निज रक्षा का अधिकार रहे जन जन को,
सबकी सुविधा का भार किन्तु शासन को।
मैं आर्यों का आदर्श बताने आया,
जन-सम्मुख धन को तुच्छ जताने आया।
सुख-शान्ति-हेतु मैं क्रान्ति मचाने आया,
विश्वासी का विश्वास बचाने आया।
मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं,
जो विवश, विकल बल-हीन, दीन शापित हैं।
हो जांय अभय वे जिन्हें कि भय भासित हैं,
जो कौणप-कुल से मूक-सदृश शासित हैं।
मैं आया जिसमें बनी रहै मर्यादा,
बच जाय प्रलय से मिटै न जीवन सादा,
सुख देने आया, दुःख झेलने आया,

मैं मनुष्यत्व का नाट्य खेलने आया।
मैं यहां एक अवलम्ब छोड़ने आया,
गढ़ने आया हूं, नहीं तोड़ने आया।
मैं यहां जोड़ने नहीं, बांटने आया,
जगदुपवन के झंखाड़ छांटने आया।
मैं राज्य भोगने नहीं, भुगाने आया,
हंसों को मुक्ता-मुक्ति चुगाने आया।
भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
सन्देश यहां मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।"

उर्मिला

"कहा उर्मिला ने—हे मन!
तू प्रिय पथ का विघ्न न बन।
आज स्वार्थ है त्याग भरा!
हो अनुराग विराग भरा!
तू विकार से पूर्ण न हो,
शोक-भार से चूर्ण न हो।
भ्रातृ-स्नेह-सुधा बरसे,
भू पर स्वर्ग-भाव सरसे।"

* * *

यदि स्वामि-संगिनी रह न सकी,
तो क्यों इतना भी कह न सकी—
"हे नाथ, साथ दो भ्राता का,
बल रहे मुझे उस त्राता का।
है त्राण आज भी इष्ट मुझे,
ये प्राण आज भी इष्ट मुझे।
रह कर वियोग से अस्थिर भी,
देखूँ मैं तुम्हें यहाँ फिर भी।
है प्रेम स्वयं कर्त्तव्य बड़ा,
जो खींच रहा है तुम्हें खड़ा।
यह भ्रातृ-स्नेह न ऊना हो,
लोगों के लिए नमूना हो।
सुन कर जीजी की मर्म-कथा,
गिर पड़ी मैं, न सह सकी व्यथा।
वह नारि-सुलभ दुर्बलता थी,
आकस्मिक-वेग-विकलता थी।
करना न सोच मेरा इससे,
व्रत में कुछ विघ्न पड़े जिससे।
आने का दिन है दूर सही,
पर है, बस अब अवलम्ब यही।
आराध्य युग्म के सोने पर,
निस्तब्ध निशा के होने पर।

तुम याद करोगे मुझे कभी,
तो बस फिर मैं पा चुकी सभी।"

भरत

"हे भरतभद्र, अब कहो अभीप्सित अपना,"
सब सजग हो गये, भंग हुआ ज्यों सपना।
"हे आर्य, रहा क्या भरत-अभीप्सित अब भी ?
मिल गया अकण्टक राज्य उसे जब, तब भी ?
पाया तुमने तरु-तले अरण्य-बसेरा,
रह गया अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा ?
तनु तड़प तड़प कर तप्त तात ने त्यागा,
क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा ?
हा ! इसी अयश के हेतु जनन था मेरा।
निज जननी ही के हाथ हनन था मेरा।
अब कौन अभीप्सित और आर्य, वह किसका ?
संसार नष्ट है भ्रष्ट हुआ घर जिसका।
मुझसे मैंने ही आज स्वयं मुंह फेरा।
हे आर्य, बता दो तुम्हीं अभीप्सित मेरा।"

कैकयी

"यह सच है तो अब लौट चलो तुम घर को।"
चौंके सब सुन कर अटल केकयी-स्वर को।
सबने रानी की ओर अचानक देखा,
वैधव्य-तुषारावृता यथा विधु-लेखा।

बैठी थी अचल तथापि असंख्यतरंगा,
वह सिंही अब थी हहा ! गोमुखी गंगा—
"हाँ जन कर भी मैंने न भरत को जाना,
सब सुन लें, तुमने स्वयं अभी यह माना ।
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया,
अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया ।
दुर्बलता का ही चिन्ह विशेष शपथ है,
पर, अबलाजन के लिए कौन-सा पथ है ?
यदि मैं उकसाई गई भरत से होऊँ,
तो पति समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊँ।
ठहरो, मत रोको मुझे, कहूँ सो सुन लो,
पाओ यदि उसमें सार उसे सब चुन लो।
करके पहाड़-सा पाप मौन रह जाऊँ ?
राई भर भी अनुताप न करने पाऊँ ?"
थी सनक्षत्र शशि-निशा ओस टपकाती,
रोती थी नीरव सभा हृदय थपकाती।
उल्का-सी रानी दिशा दीप्त करती थी,
सब में भय-विस्मय और खेद भरती थी।
"क्या कर सकती थी, मरी मन्थरा दासी,
मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी ।
जल पंजर-गत अब अरे अधीर, अभागे,
वे ज्वलित भाव थे स्वयं तुझी में जागे।

पर था केवल क्या ज्वलित भाव ही मन में ?
क्या शेष बचा था कुछ न और इस जन में ?
कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य-मात्र, क्या तेरा ?
पर आज अन्य-सा हुआ वत्स भी मेरा।
थूके, मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके,
जो कोई जो कह सके, कहे, क्यों चूके ?
छीने न मातृपद किन्तु भरत का मुझसे,
रे राम, दुहाई करूँ और क्या तुझसे ?
कहते आते थे यही अभी नर-देही,
'माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही।'
अब कहें सभी यह हाय ! विरुद्ध विधाता,—
'हैं पुत्र पुत्र ही, रहे कुमाता माता।'
बस मैंने इसका बाह्य-मात्र ही देखा,
दृढ़ हृदय न देखा, मृदुल गात्र ही देखा।
परमार्थ न देखा, पूर्ण स्वार्थ ही साधा,
इस कारण ही तो हाय आज यह बाधा !
युग युग तक चलती रहे कठोर-कहानी—
'रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी।'
निज जन्म-जन्म में सुने जीव यह मेरा—
'धिक्कार! उसे था महा स्वार्थ ने घेरा।'-"
"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
जिस जननी ने है जना भरत-सा भाई।"

पागल-सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई—
"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।"

"हा! लाल? उसे भी आज गमाया मैंने,
विकराल कुयश ही यहाँ कमाया मैंने।
निज स्वर्ग उसी पर वार दिया था मैंने,
हर तुम तक से अधिकार लिया था मैंने।
पर वही आज यह दीन हुआ रोता है,
शंकित सब से धृत हरिण-तुल्य होता है।
श्रीखण्ड आज अंगार-चण्ड है मेरा,
फिर इससे बढ़ कर कौन दण्ड है मेरा?"

पटके मैंने पद-पाणि मोह के नद में,
जन क्या-क्या करते नहीं स्वप्न में, मद में?
हा! दण्ड कौन, क्या उसे डरूँगी अब भी?
मेरा विचार कुछ दयापूर्ण हो तब भी।
हा दया! हन्त वह घृणा! अहह वह करुणा।
वैतरणी-सी हैं आज जान्हवी-वरुणा!
सह सकती हूँ चिरनरक, सुनें सुविचारी,
पर मुझे स्वर्ग की दया दण्ड से भारी।
लेकर अपना यह कुलिश-कठोर कलेजा,
मैंने इसके ही लिए तुम्हें वन भेजा।
घर चलो इसी के लिए, न रूठो अब यों,
कुछ और कहूं तो उसे सुनेंगे सब क्यों?

मुझको यह प्यारा और इसे तुम प्यारे,
मेरे दुगने प्रिय रहो न मुझ से न्यारे।
मैं इसे न जानूँ, किन्तु जानते हो तुम,
अपने से पहले इसे मानते हो तुम।
तुम भ्राताओं का प्रेम परस्पर जैसा,
यदि वह सब पर यों प्रकट हुआ है वैसा।
तो पाप-दोष भी पुण्य-तोष है मेरा,
मैं रहूँ पंकिला, पद्म-कोष है मेरा।
आगत ज्ञानीजन उच्च भाल ले ले कर,
समझावें तुमको अतुल युक्तियाँ दे कर।
मेरे तो एक अधीर हृदय है बेटा,
उसने फिर तुमको आज भुजा भर भेटा।
देवों की ही चिरकाल नहीं चलती है,
दैत्यों की भी दुर्वृत्ति यहाँ फलती है।"

आभास

अरे, ओ अब्दों के इतिहास!
कह, तू किन शब्दों में देगा युग युग का आभास?
देख इधर, वह विष ही पीते,
हमें यहाँ कितने दिन बीते,
फिर भी अमृतपुत्र हम जीते,
जिये आत्म-विश्वास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास!

पुण्य-भूमि के इस अंचल में,
सिन्धु और सरयू के जल में,
गंगा-यमुना के कल कल में,
अगणित वीचि-विलास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास!

मन्त्रों का दर्शन, अवतारण,
और दर्शनों का ध्रुव-धारण,
वह उपनिषदों का उच्चारण,
योगों का अभ्यास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास!

आत्म-रूप का वह उजियाला,
त्याग, याग, तप की वह ज्वाला,
पावन पवन तपोवन वाला,
वह विकाश, यह हास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास!

कब की थी वह संचित माया,
जो पसार कर अपनी काया,
पाकर राम-राज्य की छाया,
करती थी सुख-वास?
अरे, ओ अब्दों के इतिहास!

बजी चैन की वंशी निर्भय,
आया कलि के आगे अविनय,

फिर भी धर्मराज की जय जय,
छाया वह उच्छ्वास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

हम उजड़ों ने भी बढ़ बढ़ कर,
पार उतर, ऊपर चढ़ चढ़ कर,
देश बसाये हैं गढ़ गढ़ कर,
तब भी बिना प्रयास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

संघ-शरण लेकर सुखदाई,
फिर भी यहां शांति फिर आई,
गूँज गिरा गौतम की छाई,
फिर नव भव-विन्यास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

उदासीनता की दोपहरी,
भ्रांतिमयी निद्रा थी गहरी,
तब भी जाग रहे थे प्रहरी,
कर न सका कुछ त्रास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

सहसा एक स्वप्न-सा आया,
वह क्या क्या उत्पात न लाया,
जागे तो यह बन्धन पाया,

हुआ हाय ! खग्रास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

किन्तु निराश न होना भाई,
इसमें भी कुछ भरी भलाई;
तुमने मोहन की मति पाई,
उठने दो उल्लास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

निज बन्धन भी विफल न जावे,
विश्व एक नूतन बल पावे,
बन्धु-भाव में वैर बिलावे,
अनुपम ये दिन-मास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

संलाप

बोला घन गम्भीर-गिरा-पूर्वक भूतल से—
"करता हूँ मैं आर्द्र तुझे कैसा निज बल से?"
भूतल ने तब कहा कि—"इसमें क्या संशय है,
मिला कहाँ से भला तुम्हें यह पावन पय है?"

* * *

घनमाला ने कहा सूर्य्य के सम्मुख जाकर—
"तेरा सारा तेज देखती हूँ मैं आकर!"
बोला रवि मुँह फेर कि--"यह उसका ही फल है,
स्वकरों से जो तुझे पिलाया मैंने जल है!"

* * *

फल से तरु ने कहा कि—"मैं गौरव हूँ तेरा,
रखता है अभिलाष देख सब कोई मेरा।"
"ऐसा गौरव नहीं चाहिए"—बोला तरुवर—
"इसीलिए हैं लोग मारते मुझको पत्थर।"

* * *

कहा बाण ने—"काम दूर तक मैं ही दूंगा,"
बोला चाप—"परन्तु सहायक जब मैं हूंगा।"
प्रत्यञ्चा ने कहा—"कहो सब अपनी अपनी,"
कर बोला—"है मुझे मौन माला ही जपनी।"

* * *

बोला विकल पतङ्ग दीप में जलता जलता,
"फल ऐसा ही स्नेह-विटपि पर है क्या फलता?"
कहा दीप ने—महा कठिन है इसका धारण,
पहले ही जल रहा यहाँ मैं जिसके कारण।"

* * *

बोला चुम्बक—"नीति-रीति कैसी है मेरी,"
कहा सार ने—"प्रीति खींच लाती है तेरी।"

* * *

"कहा वृक्ष ने—"उच्च और उपकारी हूँ मैं,"—
बोली वल्ली—"तभी सदैव तुम्हारी हूँ मैं।

* * *

कहा अनल ने—"अहा ! तेज मेरा है कितना"।
जल ने उत्तर दिया कि—"मैं शीतल हूँ जितना !"

*　　　*　　　*

कहा व्योम ने—"भूमि ! पड़ी नीचे तू मरती,"—
"किन्तु शून्य तो नहीं"—व्योम से बोली धरती।

*　　　*　　　*

असि बोली—"है कौन सहायक और समर में ?"
"हाँ, जो रक्षा करे"—ढाल बोली उत्तर में।"

माखनलाल चतुर्वेदी

चतुर्वेदी जी होशंगाबाद (मध्यप्रान्त) के एक गाँव 'बावई' के वासी हैं। इनके पिता का नाम पं० नंदलाल चतुर्वेदी था। इनका जन्म सं० १९४५ में हुआ। इन्होंने नार्मल ट्रेनिंग स्कूल तक शिक्षा प्राप्त की और फिर खण्डवा के एक स्कूल में अध्यापन कार्य करने लगे। अध्यापन काल में इन्होंने अंग्रेजी, संस्कृत, बंगला और मराठी का अध्ययन भी जारी रखा। साहित्य की ओर इन की भारी रुचि थी। खण्डवा से इन्होंने 'प्रभा' नाम की एक पत्रिका भी निकाली। कुछ काल के बाद ये पं० माधवराव सप्रे के सम्पर्क में आ गये और अध्यापन कार्य छोड़ कर राजनीतिक कामों में भाग लेने लगे। उनके साथ मिलकर इन्होंने

साप्ताहिक 'कर्मवीर' निकाला जो अब तक जारी है और जिसके अब ये प्रमुख सम्पादक हैं। बीच में ये पं० गणेशशंकर विद्यार्थी के साथ 'प्रभा' और 'प्रताप' का भी सम्पादन कार्य कर चुके हैं। राजनीतिक क्षेत्र में इनको बहुमान प्राप्त है, राष्ट्रीय कविता लिखने में ये सर्वप्रधान कवि माने जाते हैं। इनका कविता का नाम 'भारतीय आत्मा' है और ये सचमुच आचार और विचार में भारतीय आत्मा ही हैं। खड़ीबोली के नवीन प्रमुख कवियों में इनका स्थान है। कविता में भावुकता है, छायावाद की श्रेणी की प्रेमानुभूति है और राष्ट्रीय भावना है। सरलता और गहराई उसका विशेष गुण है। अपने आस-पास के लोग इन्हें 'नर्मदा तट का गायक' कह कर पुकारते हैं। इनका एक नाटक 'कृष्णार्जुन युद्ध' भी अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। ये गद्य के भी बड़े मार्मिक लेखक हैं। इनकी शैली व्यंग्य तथा कला से पूर्ण है। 'साहित्य देवता' नाम से कुछ सुन्दर निबन्ध भी लिखे हैं जो अभी अप्रकाशित हैं।

— —

हृदय

(१)

धीर सा गम्भीर सा यह है खड़ा,
धीर होकर यह अड़ा मैदान में।
देखता हूँ मैं जिसे तन-दान में,
जन-दान में सानन्द जीवन-दान में॥
हट रहा जो दम्भ आदर प्यार से,
बढ़ रहा जो आप अपनों के लिये।
डट रहा है जो प्रहारों के लिये,
विश्व की भरपूर मारों के लिये॥
देवताओं के यहां पर बलि करो,
दानवों का छोड़ दो सब दुःख भय।
"कौन है?"—यह है महान मनुष्यता,
और है संसार का सच्चा "हृदय"॥

(२)

क्यों पड़ी परतन्त्रता की बेड़ियां ?
दासता की हाय ! हथकड़ियां पड़ीं।
क्यों क्षुद्रता की छाप छाती पर छपी ?
कण्ठ पर ज़ंजीर की लड़ियां पड़ीं॥
दास्य भावों के हलाहल से हरे !
मर रहा प्यारा हमारा देश क्यों ?
यह पिशाची उच्च शिक्षा सर्पिणी,
कर रही वर वीरता निःशेष क्यों ?
वह सुनो ! आकाशवाणी हो रही,
"नाश पाता जायगा तब तक विजय"
वीर ?—"ना" धार्मिक ?—"नहीं" सत्कवि?—"नहीं";
देश में पैदा न हो जब तक "हृदय"॥

(३)

देश में बलवान भी भरपूर हैं,
और पुस्तक-कीट भी थोड़े नहीं।
हैं यहां धार्मिक ढले टकसाल के,
पर किसी ने भी हृदय जोड़े नहीं॥
ठोकरें खातीं मनों की शक्तियां,
राममूर्ति बने खुशामद कर रहे।
पूजते हैं देवता दबते नहीं;
दीन, दब्बू बन करोड़ों मर रहे॥

"हे हरे ! रक्षा करो"—यह मत कहो,
चाहते हो इस दशा पर जो विजय।
तो उठो ढूँढ़ो छुपा होगा कहीं,
राष्ट्र का बलि देश का ऊँचा "हृदय"॥

(४)

फूल से कोमल, छबीला रत्न से,
वज्र से दृढ़ शुचि सुगन्धी यज्ञ से।
अग्नि से जाज्वल्य हिम से शीत भी,
सूर्य्य से देदीप्यमान मनोज्ञ से॥
वायु से पतला पहाड़ों से बड़ा,
भूमि से बढ़ कर क्षमा की मूर्ति है।
कर्म का औतार रूप शरीर जो,
श्वास क्या संसार की वह स्फूर्ति है॥
मन महोदधि है वचन पीयूष हैं,
परम निर्दय है बड़ा भारी सदय।
कौन है ? है देश का जीवन यही,
और है वह, जो कहाता है "हृदय"॥

(५)

सृष्टि पर अति कष्ट जब होते रहे,
विश्व में फैलीं भयानक भ्रान्तियां।
दण्ड अत्याचार बढ़ते ही गये,
कट गये लाखों, मिटी विश्रान्तियां॥

गद्दियां टूटीं असुर मारे गये—
किस तरह ? होकर करोड़ों क्रान्तियां।
तब कहीं है पा सकीं मातामही,
मृदुल जीवन में मनोहर शान्तियां॥
बज उठीं संसार भर की तालियां,
गालियां पलटीं—हुई ध्वनि जयति जय।
पर हुआ यह कब ? जहां दीखा अहो !
विश्व का प्यारा कहीं कोई "हृदय"॥

पुष्प की अभिलाषा

चाह नहीं, मैं सुर-बाला के गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं, प्रेमी-माला में, बिंध प्यारी को ललचाऊँ,
चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि ! डाला जाऊँ,
चाह नहीं, देवों के शिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ,
मुझे तोड़ लेना वनमाली !
उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ जावें वीर अनेक॥

पर्वत की अभिलाषा

तू चाहे मुझ को हरि ! सोने का मढ़ा सुमेरु बनाना मत,
तू चाहे मेरी गोद खोद कर मणि-माणिक प्रगटाना मत।

तू मिट जाने तक भी मुझ में से ज्वालाएँ बरसाना मत,
लावण्य लाड़ली वन-देवी का लीला-क्षेत्र बनाना मत।
जगतीतल का मल धोने को, भू हरी-हरी कर देने को,
गंगा जमना में बहा सकूँ यह देना, देर लगाना मत।

त्याग का आदर्श

मत व्यर्थ पुकारे शूल-शूल
कह फूल-फूल, सह फूल-फूल;
हरि को हीतल में बन्द किये
केहरि से कह नख हूल-हूल।

कागों का सुन कर्त्तव्य-राग
कोकिल-काकलि को भूल-भूल;
सुरपुर ठुकरा, आराध्य कहे,
तो चल रौरव के कूल-कूल।

भू-खण्ड बिछा, आकाश ओढ़,
नयनोदक ले, मोदक प्रहार;
ब्रह्माण्ड हथेली पर उछाल
अपने जीवन-धन को निहार।

जीवन-झरना

मेरी वीणा की कटुता धो डाल तरल तारों से;
मैं तुझ-सा पागल होके, बह उठूँ हृदय-द्वारों से।

चढ़कर, गिरकर, फिर उठकर, कहता तू अमर कहानी;
गिरि के अंचल में करता कूजित कल्याणी वाणी।
क्या मेरे गीत मधुर हैं ? पड़ गया तुम्हारा पानी ?
ऊँचे-नीचे टीलों से, मैंने कब कही कहानी ?
पाषाणों से लड़कर भी ठंडक कब मैंने जानी ?
कब जी का मल धो पाता, मेरी आँखों का पानी ?
कब श्रमित पा सके मुझ में, शीतल तुषार की धारा ?
मैंने प्रियतम की रुख कब गिरकर उठकर पथ धारा?
मैं भूमण्डल को कृति से हूँ कुंभीपाक बनाता;
तू स्वर्गंगा बन करके सुर-लोक मही पर लाता।
मैं उपकारी के प्रति भी, ममता बारूद बनाता;
हूँ अपनी कुटी जलाता, उसके घर आग लगाता।
तू 'मित्र'—प्रमत्त करों से ग्रीषम में प्राण सुखाता;
पर उसका स्वागत गाकर, किरनों पर अर्घ्य चढ़ाता।
मेरे गीतों की प्यारे ! बूँदें सूखने न पाती;
विस्मृति पथ जोहा करती, अपना शृंगार बनाती।
पंछी-दल ने पर तेरे गीतों का गान किया है;
हरि ने तेरी वाणी को अमरत्त्व प्रदान किया है।
क्या जाने तरु पंखेरू तुझ को लख क्यों जीते हैं ?
तेरा कलकल पीते हैं, या तेरा जल पीते हैं ?

देश के बालक

सुनावें यों बिजली के वाक्य, शीश भूपालों के झुक जायँ;
सृष्टि कट मरने से बच जाय, शस्त्र चाण्डालों के रुक जायँ।
पाप के पण्डे पावें दण्ड, दम्भ से दुनिया भर डर जाय;
भगीरथ मन की विनती मान, स्फूर्ति की गंगा कुछ कर जाय।
प्रेम के पालक हों या न हों, प्रणों के पूरे पालक हों;
भारती ने यों रोकर कहा, देश में ऐसे बालक हों।

भारत के भावी विद्वान्

आज कई वीरों के रहते हुआ न उन्नत हिन्दुस्तान,
बना सका कोई गुण, विद्या बल में उसे न गौरववान।
तो भी धीरज धरो, डरो मत, मेरे आशाकारी प्राण,
देखो, कुछ कर दिखलावेंगे, भारत के भावी विद्वान ॥१॥

जिनको बाल समझ कर माता, दूध पिलाती सुधा-समान,
जिनको पाल हुई है जगतीतल में वह आनन्द-निधान।
जिनको लाल-लाल कह उसने भुला दिया सुख-दुख का ध्यान,
जानो उन्हें राष्ट्र की सम्पत् भारत के भावी विद्वान ॥२॥

हैं किस दुख से दुखी ? विचारो; उनका हरो शीघ्र संताप,
क्यों दुर्बल हैं ? क्यों रोते हैं ? क्यों भूले हैं मधुरालाप ?
माताओ ! समझाओ उनको, देकर तन मन जीवन-दान,
देखो ! दुखी न होने पावें भारत के भावी विद्वान ॥३॥

आर्य्य-कीर्ति के स्तम्भ, सौख्य के सेतु, महत्ता के अवतार,
कठिन समय में आशा के बस एकमात्र सच्चे आधार।
यही तुम्हारा कष्ट हरेंगे यही बनेंगे शक्ति-निधान,
पिता ! प्राण दे पाले ये हैं भारत के भावी विद्वान॥४॥

आओ इनकी शिक्षा के हित, उथल-पुथल कर दें संसार,
इन्हें बनावें कला-कुशल, नय-निपुण, वीर धीमान उदार।
डरें न प्रण पर मरें करें कर्त्तव्य बनावें दृढ़ सन्तान,
भारतीय हैं वही, बनावें भारत के भावी विद्वान॥५॥

अब तो पिता निकम्मे होकर शिक्षा का कर सकें न यत्न,
राज्य, देश कोई न परखता, भरत-वसुमती के ये रत्न।
क्यों कर वह उन्नत होवेगा, खोवेगा अपना अज्ञान,
कई करोड़ मूर्ख हैं, हा ! जिस भारत के भावी विद्वान॥६॥

अन्न नहीं है, फीस नहीं है, पुस्तक है न सहायक हाय !
जी में आता है, पढ़ लिख लें, पर इसका है नहीं उपाय।
"कोई हमें पढ़ाओ भाई ! हुए हमारे व्याकुल प्राण;"
हा ! हा ! यों रोते फिरते हैं भारत के भावी विद्वान॥७॥

बूट चाहिये सूट चाहिये कालर हैट और नेकटाय,
केन चाहिये चेन चाहिये घड़ी सहित फिर डेली चाय।
देखो इस पर लिखा न होवे, कहीं "मेड इन हिन्दुस्तान",
क्योंकि हमीं तो हैं, इस बूढ़े भारत के भावी विद्वान॥८॥

"शुभ्र वस्त्र हैं, बुद्धि शस्त्र है, पढ़ते हैं वन में निश्शंक,
बढ़ा रही है बल वैभव को, प्यारी मातृ-भूमि की अंक।

ब्रह्मचर्य रख सरस्वती पर दान करेंगे तन, मन, प्राण"।
ये हैं, निस्सन्देह हमारे, भारत के भावी विद्वान ॥९॥

किनको होगा जन्मभूमि के कष्टों का पूरा अनुमान ?
भाषा, भाव, भेष, भोजन में, भारतीयता का अभिमान।
कौन हमारा दुःख हरेंगे, हमें करेंगे गौरववान ?
यह सुन सच्चे हृदय कहेंगे, भारत के भावी विद्वान ॥१०॥

शिल्प गया वाणिज्य गया शुभ शिक्षा का है मान नहीं,
कृषि भी डूबी हुए दरिद्री पर इसका कुछ ज्ञान नहीं!
हाय! आज हम भोग रहे हैं झिड़की, घृणा और अपमान,
कैसे ये दुख दूर करेंगे, भारत के भावी विद्वान ॥११॥

प्रलय-कारिणी युवक-शक्ति की क्या सुन पाये बात नहीं ?
भीष्म-प्रतिज्ञा, लव-कुश-कौशल, पार्थ-पुत्र-बल ज्ञात नहीं ?
भूलो मत, लिख लो निस्संशय, इसे हृदय में पक्की मान,
भारत का सब दुःख हरेंगे भारत के भावी विद्वान ॥१२॥

सूरज! सावधान हो जाओ, मातृभूमि तुम धरलो धीर,
पश्चिम! तू भी शीघ्र सम्हल ले, नीति बदल बन जा गम्भीर।
कर्म-क्षेत्र में आते हैं अब करने को जननी का त्राण,
कई करोड़ दुखों से व्याकुल भारत के भावी विद्वान ॥१३॥

रामनरेश त्रिपाठी

संयुक्त प्रान्त के जौनपुर ज़िले में कोइरीपुर एक गाँव है, वहीं सं० १९४६ में पं० रामनरेश त्रिपाठी का जन्म हुआ था। हिन्दी के आप पण्डित, सुकवि, सुलेखक तथा काव्य कला के मर्मज्ञ हैं और उर्दू, गुजराती, अंग्रेजी और संस्कृत के अच्छे जानकार । प्रकाशन आपका जीवन व्यवसाय है। आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बहुत काल तक मन्त्री भी रह चुके है। बालकों और नवयुवकों के लिये आपने बहुत सुन्दर साहित्य की सृष्टि की है। 'मिलन' 'पथिक' और 'स्वप्न' आपकी राष्ट्रीय भावों से भरी हुई सुन्दर रचनाएँ हैं। हिन्दी-साहित्य में इन सब का खूब मान हुआ है। 'मानसी' आपकी फुटकर रचनाओं का संग्रह

है । प्रकृति का चित्र उतारने में आपने अच्छी सफलता प्राप्त की है । 'कविता-कौमुदी' के भिन्न-भिन्न भागों में जो आपने हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, बङ्गला आदि की कविताओं का सुन्दर चयन किया है, उससे हिन्दी साहित्य की खूब समृद्धि हुई है । 'ग्रामगीत' के नाम से जो ग्राम्य कविताओं का संग्रह प्रस्तुत किया गया है, वह भी आदर की वस्तु है । अभी आपका इस दिशा में परिश्रम जारी है । 'रामचरितमानस की टीका', 'तुलसीदास और उनकी कविता', 'हिन्दी-शब्द-कल्पद्रुम', 'जयंत' आदि भी आपकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं ।

अन्वेषण

मैं ढूँढता तुझे था जब कुंज और बन में,
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में।
तू आह बन किसी की मुझ को पुकारता था,
मैं था तुझे बुलाता संगीत में भजन में।
मेरे लिये खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू,
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में।
बन कर किसी के आंसू मेरे लिये बहा तू,
आंखें लगी थीं मेरी तब मान और धन में।
बाजे बजा बजा के मैं था तुझे रिझाता,
तब तू लगा हुआ था पतितों के संगठन में।
मैं था विरक्त तुझ से जग की अनित्यता पर,
उत्थान भर रहा था तब तू किसी पतन में।

बेबस गिरे हुओं के तू बीच में खड़ा था,
मैं स्वर्ग देखता था झुकता कहाँ चरण में।
तूने दिये अनेकों अवसर न मिल सका मैं,
तू कर्म में मगन था मैं व्यस्त था कथन में।
तेरा पता सिकंदर को मैं समझ रहा था,
पर तू बसा हुआ था फ़रहाद कोहकन में।
क्रीसस की हाय में था करता विनोद तू ही,
तू अंत में हँसा था महमूद के रुदन में।
प्रहलाद जानता था तेरा सही ठिकाना,
तू ही मचल रहा था मंसूर की रटन में।
आख़िर चमक पड़ा था गाँधी की हड्डियों में,
मैं था तुझे समझता सुहराब पीलतन में।
कैसे तुझे मिलूँगा जब भेद इस क़दर है,
हैरान होके भगवन् आया हूँ मैं सरन में।
तू रूप है किरन में, सौन्दर्य है सुमन में,
तू प्राण है पवन में, विस्तार है गगन में।
तू ज्ञान हिन्दुओं में, ईमान मुस्लिमों में,
तू प्रेम क्रिश्चियन में, है सत्य तू सुजन में।
हे दीनबंधु ! ऐसी प्रतिभा प्रदान कर तू,
देखूँ तुझे दृगों में मन में तथा वचन में।
कठिनाइयों दुखों का इतिहास ही सुयश है,
मुझको समर्थ कर तू बस कष्ट के सहन में।

दुख में न हार मानूँ सुख में तुझे न भूलूँ,
ऐसा प्रभाव भर दे मेरे अधीर मन में।

कर्म-माहात्म्य

(१)

यह संसार मनुष्य के लिए एक परीक्षा-स्थल है।
दुख हैं प्रश्न कठोर, देख कर होती बुद्धि विकल है।
किन्तु स्वात्म-बल विज्ञ सत्पुरुष ठीक पहुँच अटकल से।
हल करते हैं प्रश्न सहज में अविरल मेधा-बल से॥

(२)

यही लोक-कल्याण-कामना, यही लोक-सेवा है।
यही अमर करने वाले यश-सुरतरु का मेवा है।
जाओ पुत्र ! जगत में जाओ, व्यर्थ न समय गँवाओ।
सदा लोक-कल्याण-निरत हो जीवन सफल बनाओ॥

(३)

दुख में बन्धु, वैद्य पीड़ा में, साथी घोर विपद में।
दुसह दीनता में आश्रय, उत्साह निराशा-नद में।
भ्रम में ज्योति, सुमति सम्पति में, दृढ़ निश्चय संशय में।
छल में क्रान्ति, न्याय प्रभुता में, अटल धैर्य बन भय में॥

(४)

जनता के विश्वास कर्म मन ध्यान श्रवण भाषण में।
वास करो, आदर्श बनो, विजयी हो जीवन-रण में।
अति अशान्त दुखपूर्ण विशृङ्खल क्रान्ति-उपासक जग में।
रखना अपनी आत्म-शक्ति पर दृढ़ निश्चय प्रति पग में॥

(५)

जग की विषम आँधियों के झोंके सम्मुख हो सहना।
स्थिर उद्देश्य-समान और विश्वास-सदृश दृढ़ रहना।
जाग्रत नित रहना उदारता-तुल्य असीम हृदय में।
अन्धकार में शान्त चन्द्र-सा ध्रुव-सा निश्चल भय में॥

(६)

तुम्हें स्मरण करके उदार, संयमी, सच्चरित जन हों।
पर-दुख देख दूर करने की उत्सुकतामय मन हों।
जनता सुन कर नाम तुम्हारा एक भाव में जागे।
सत्य न्याय के संरक्षण में मुदित प्राण तक त्यागे॥

(७)

जग में सुख की प्राप्ति के लिये एक सहायक दुख है।
वही जगाता है सद्गुण को सद्गुण लाता सुख है।
बाधा, विघ्न, विपत्ति, कठिनता जहां-जहां सुन पाना।
सब के बीच निडर हो जाना, दुख को गले लगाना॥

(८)

गौर श्याम, उत्तम जघन्य, कुत्सित कुरूप सुन्दर का।
होता नहीं विचार प्रेम के शासन में निज पर का।
घृणित अछूत अकिञ्चन जग में जो जन है जितना ही।
तुमसे है वह प्रेम-प्राप्ति का पात्र अधिक उतना ही॥

(९)

सदा लोक-सौन्दर्य-वृद्धि की कवि-सम चिन्ता करना।
मत-दुख-सुख-विकार-वश होना प्रतिभा से पद धरना।

जो कहते हो जगत महा माया है, भीषण भ्रम है।
इस विचार में तुमको ही धोखा है, भ्रान्ति विषम है॥

(१०)

जगन्नियंता की इच्छा से यह संसार बना है।
उसकी ही क्रीड़ा का रूपक यह समस्त रचना है।
है यह कर्म-भूमि जीवों की, यहाँ कर्म-च्युत होना।
धोखे में पड़ना, अलभ्य अवसर से है कर धोना॥

(११)

एक अनन्त शक्ति वसुधा का सञ्चालन करती है।
वह स्वतन्त्र इच्छा से लय, उद्भव, पालन करती है।
उसी शक्ति से ग्रह नियमित कक्षा में चकराते हैं।
किन्तु चीर कर महाशून्य को केतु निकल जाते हैं॥

(१२)

उसी शक्ति से सुन्दर घन से सुधा-बिन्दु झड़ता है।
करता हाहाकार वज्र पृथ्वी पर आ पड़ता है।
उसी शक्ति की सुखद प्रेरणा शुद्ध आत्म-सम्मति है।
करो उसी का कर्म, उसी की नियत समस्त प्रगति है॥

(१३)

परम विचित्र यन्त्र यह जग है उसी शक्ति से चलता।
मत करना अभिमान मिले जो तुमको कभी सफलता।
यद्यपि सब जग का हित-चिन्तन सब को आवश्यक है।
पर प्रत्येक मनुज पर पहला देश जाति का हक़ है॥

(१४)

पैदा कर जिस देश जाति ने तुमको पाला पोसा।
किये हुए है वह निज हित का, तुमसे बड़ा भरोसा।
उससे होना उऋण प्रथम है सत्कर्त्तव्य तुम्हारा।
फिर दे सकते हो वसुधा को शेष स्वजीवन सारा॥

(१५)

फिर कहता हूँ, डरो न दुख से कर्म-मार्ग सम्मुख है।
प्रेम-पंथ है कठिन, यहाँ दुख ही प्रेमी का सुख है।
कर्म तुम्हारा धर्म अटल हो कर्म तुम्हारी भाषा।
हो सकर्म मृत्यु ही तुम्हारे जीवन की अभिलाषा॥

राम कहाँ मिलेंगे ?

ना मन्दिर में ना मसजिद में
ना गिरजे के आसपास में।
ना पर्वत पर ना नदियों में
ना घर बैठे ना प्रवास में।
ना कुंजों में ना उपवन के
शांति-भवन या सुख·निवास में।
ना गाने में ना बाने में
ना आंसू में नहीं हास में।
ना छंदों में ना प्रबंध में
अलंकार ना अनुप्रास में।

खोज ले कोई राम मिलेंगे
दीन जनों की भूख प्यास में।

ज्ञान का दण्ड

(१)

सावन के श्याम घन शोभित गगन में,
धरा में हरे कानन विमुग्ध करते हैं मन।
बकुल-कदंब की सुगंध से सना समीर,
पूरब से आकर प्रमत्त करता है तन॥
पर दूसरे ही छन आकर कहीं से, घूम,
जाते हैं नयन में अकिंचन किसान गन।
सारे सुख साज बन जाते हैं विषाद रूप,
ज्ञानी को है ज्ञान दंड सुखी हैं विमूढ़ जन॥

(२)

देखते हैं मृग याद आती मृगलोचनी है,
फिर भूखे भारत के दृग याद आते हैं।
केकी के कलाप कोकिला के कल गान में,
विलाप विधवा का सुन हम दुख पाते हैं॥
अत्याचार-पीड़ित किसान के रुदन में,
पयोद के विनोद हम भूल भूल जाते हैं।
भोग सकते न सुख भूल सकते न दुख,
यों ही दुविधा में पड़े जीवन बिताते हैं॥

अन्यायी देश

(१)

जहां स्वार्थ-वश लोग प्यार करते हैं अन्यायी का,
होता है न जहां स्वार्थ-वश शत्रु सगे भाई का।
जहां सत्यभाषण, सनेह, सद्‌गुण के परिदर्शन का-
स्वार्थ हेतु है, भला वहां कल्याण कहां है जन का?

(२)

चोरी, जारी, छल, प्रपंच, पर-पीड़न आडम्बर से,
ओत-प्रोत है जहां मनुज का जीवन मद मत्सर से।
सर्वनाश की ओर विहंसते हुए बजाकर डंका,
जहां मूढ़ दौड़े जाते हैं फल की तज आशंका।

(३)

पुण्य-चरित सज्जन से विषयी कल्मष मध्य निवासी,
न्यायी से वञ्चक, दाता से कृपण विशेष विलासी।
जहां श्रमी से क्रयी-विक्रयी, वेश्या सुखी सती से,
निर्जन वन है परम सुखद उस न्याय-रहित जगती से।

सज्जन

(१)

चिर कृतज्ञ, सदा उपकार में,
निरत पुण्य चरित्र अनेक हैं।

परहितोद्यत स्वार्थ विना कहीं,
विरल मानव हैं इस लोक में॥

(२)

निज बड़प्पन की सुन के कथा,
सकुचता जिसका चित चारु है।
विकसता सुन के पर कीर्ति है,
जगत में वह सज्जन धन्य है॥

(३)

सुजन की यह एक विचित्रता,
बहुत रोचक और मनोज्ञ है।
समझ के धन को तृण तुल्य भी,
नमित हैं रहते उस भार से॥

(४)

सुजन के उर बीच कठोरता,
कुलिश से बढ़ के रहती न जो।
वचन-सायक दुष्ट मनुष्य के,
सह भला सकते इस भाँति वे॥

(५)

पड़ महज्जन घोर विपत्ति में,
निज महत्त्व कभी तजते नहीं।
पड़ कपूर हुताशन बीच भी,
सुरभि है सब ओर पसारता॥

(६)

वदन में मुद भाषण में सुधा,
हृदय में जिसके रहती दया।
परहितेच्छुक सो इस लोक में,
पुरुष-पुंगव पूजन-योग्य है॥

(७)

उपजता उर में न कदापि है,
यदि हुआ, क्षण में गत हो गया।
यदि रहा, समझो वह व्यर्थ है,
खल-कृपा-सम सज्जन-कोप है॥

(८)

विटप छिन्न हुआ; बढ़ता पुनः,
न रहती विधु में नित क्षीणता।
सुजन के मन में यह देख के,
विकलता बढ़ती न विपत्ति में॥

(९)

जल न पान स्वयं करती नदी,
फल न पादप हैं चखते स्वयं।
जलद सस्य स्वयं चरते नहीं,
सुजन-वैभव अन्य-हितार्थ है॥

(१०)

यश मिले अथवा अपकीर्ति हो,
धन रहे न रहे, कुछ क्यों न हो।
हृदय में रहते तक प्राण के,
बुध नहीं तजते पथ धर्म का॥

पाँच सूचनायें

(१)

संदेहों में ग्रस्त प्रेम-सा अस्त हुआ दिनकर था,
विरहोन्माद समान चन्द्र का उदय बड़ा सुखकर था।
एक बृहत् संगीत-महोत्सव अभी समाप्त हुआ था,
मन को मोद और रसना को कलरव प्राप्त हुआ था॥

(२)

साबुन और तेल से धोये लिपे-पुते चमकीले,
मोछों की अनेक कट छँट से चित्रित परम सजीले।
मुख-मण्डल रूपी परदों में भिन्न-भिन्न आकृति के,
कितने ही सुर असुर छिपे बैठे थे भिन्न प्रकृति के॥

(३)

आंखों की खिड़कियां खोल कर दृश्य निहार रहे थे,
बातों की सुन्दर रचना से सुख विस्तार रहे थे।
प्रेम-पूर्ण नेत्रों से सब की ओर देख सुख पाके,
मन ही मन सुखदास मुदित था अपना विभव दिखा के॥

(४)

सोने चांदी के पात्रों में व्यंजन विविध रसीले,
सज्जित देख मुदित, उत्सुक आतुर थे मित्र रँगीले।
इतने ही में एक अपरिचित व्यक्ति दिव्य तन-धारी,
हुआ उपस्थित, देख चकित हो गई मंडली सारी॥

(५)

अभिमानी सुखदास क्रुद्ध हो बोला ऊँचे स्वर में,
"बिना बुलाये, बिना सूचना दिये किसी के घर में।
यों घुस आना असभ्यता है ओ मनुष्य अज्ञानी!"
वह बोला, चुप रहो, शांत हो ऐ मनुष्य अभिमानी!

(६)

"मेरा नाम काल है, मैं हूँ आया पास तुम्हारे,
तुमने अपनी करनी से है मुझे बुलाया प्यारे!
अति अभिमानी धन यौवन का मित्र! तुम्हारा मन है,
विषय-वासना-लिप्त कलंकित पाप-पूर्ण जीवन है॥

(७)

संयम-हीन शरीर रोग का भवन सदा अपकारी,
मुझे बुलाने को है भाई! यही पुकार तुम्हारी।
अस्त्र-शस्त्र सज्जित सेना से रक्षित राजमहल में,
तोपों से नित सावधान अति दुर्गम सैनिक-दल में॥

(८)

"सागर की छाती पर, गिरि पर, सूने में, हलचल में,
सिंहों के घर में, कुओं में, मरु-स्थलों में, जल में।

रोक-टोक आने-जाने की मुझको कहीं नहीं है,
आवश्यकता मुझे सूचना देने की न कहीं है॥

(९)

ऐ सुखदास, सुनो, मैं जाता हूँ जिस दिन उपवन में,
मच जाती है एक भयानक हलचल जड़ चेतन में।
गिरा-गिरा कर फूल नाम के आंसू तरु रोते हैं,
नोच-नोच कर पत्ती अपने पर व्याकुल होते हैं॥

(१०)

धन यौवन के मद में तुमको मेरा तनक न डर है,
चलो देर मत करो, ठहरने का न मुझे अवसर है।"
सहम गया सुखदास काल की सुन कर निर्भय वाणी,
होते हैं डरपोक प्रकृति के प्रायः विषयी प्राणी॥

(११)

वह था जेंटिलमैन संभल कर, शीघ्र होश में जागा,
सोचा बातों में न फँसेगा क्या यह काल अभागा।
बोला, "सच है काल, मिली है तुमको शक्ति निराली,
निमिषमात्र में कर सकते हो तुम इस तन को खाली॥

(१२)

पर तुम एक बार क्षण भर भी सोचो अपने मन में,
अभी कौन सा सुख भोगा है मैंने इस जीवन में।
धन यौवन से सुख पाने का अभी समय है आया,
मित्रों से आनन्द प्राप्ति का अब अवसर है पाया॥

(१३)

मैंने नया विवाह किया है आज वही उत्सव है,
गृह-सुख बाल-विनोद आदि का कहां हुआ अनुभव है ?
फिर भी मुझको ले जाने को तुम इतने आतुर हो,
काल ! सच कहो, तुम क्यों इतने वज्र-हृदय निष्ठुर हो॥

(१४)

तुमने कभी खिले फूलों को देखा है उपवन में ?
तो भी क्या कुछ कोमलता उपजी न तुम्हारे मन में ?
मुझे छोड़ दो; दान, पुण्य, व्रत, धर्म, कर्म कुछ कर लूं,
जग में आया हूं तो जग के सुख से भी मन भर लूं॥

(१५)

धर्म पुण्य का मैंने अब तक कुछ न प्रयत्न किया है,
विषय-वासना ही को धन, यौवन सब सौंप दिया है।
घरवालों का, उद्यम का, परलोक प्राप्त करने का,
कुछ प्रबन्ध कर लेने दो, तब भय न रहे मरने का॥"

(१६)

सुन कर कहा काल ने, "अच्छा ऐ सुखदास ! तुम्हारी,
विनय मान लेता हूं मैं तुम बनो पुण्य-अधिकारी।
एक नहीं, मैं पांच सूचनाएं देकर आऊंगा,
आशा है, तैयार उस समय मैं तुमको पाऊंगा॥

(१७)

अब तो तुम पाषाण-हृदय निर्दयी न मुझे कहोगे,
जाता हूं, आशा है अन्तिम दिन तैयार रहोगे॥"

काल गया; सुखदास लौटकर मित्र-वर्ग में आया,
प्रमुदित हुआ कि आज काल को कैसा मूढ़ बनाया॥

(१८)

क्षण भर में क्षण भर पहिले की सारी बात बिसारी,
फिर आमोद-प्रमोद परस्पर हुए पूर्ववत् जारी।
निर्भय हो सुखदास समय विषयों में लगा बिताने,
राग-द्वेष-वश उसने कुत्सित कर्म किये मनमाने॥

(१९)

जगदीश्वर ने दिये कई अवसर उसके जीवन में,
पर कुछ भी चेतना न उपजी उस लम्पट के मन में।
कई दिनों से भूख प्यास से विकल एक घरवाले,
बैठे थे असहाय दशा में कोई पुण्य कमा ले॥

(२०)

जगदीश्वर थे बाट जोहते पर सुखदास न आया,
मछली के शिकार में उस दिन वह था बहुत लुभाया।
निस्सहाय धनहीन दुखों से जर्जर एक निबल की,
मार्ग-पतित असमर्थ व्याधि से पीड़ित एक विकल की॥

(२१)

ईश्वर ने आहें लाकर उसके कानों में डालीं,
सुख में विघ्न समझ कर उसने और शराब चढ़ा ली।
गरीबिनी थी एक साथ थे बच्चे कई अभागे,
हरि ने लाकर खड़े किये सुखदास मूढ़ के आगे॥

(२२)

दुखिया के आंसू बन कर हरि ने निज रूप दिखाया,
पर सुखदास देख कर उसको नौकर पर झुँझलाया।
नौकर को भी उस दुखिया के साथ तुरन्त निकाला,
क्यों उसने यह दृश्य दिखा कर था मधु में विष डाला॥

(२३)

क्लब में जाकर विविध विषय पर वह घंटों बकता था,
पर-निन्दा करने में तो वह कभी नहीं थकता था।
हरि अवसर देते थे उसको सदुपदेश करने का,
वह कहता था, भला मुझे अवकाश कहाँ मरने का॥

(२४)

इस प्रकार निश्चिन्त मूढ़-सा उसने समय बिताया,
राग रंग में उसे काल का ध्यान भी नहीं आया।
अंग शिथिल हो गये, कामना गई न उसके मन से,
भला किसी का हो न सका उसके समस्त जीवन से॥

(२५)

एक दिवस बैठा था सुख से वह प्रमोद-कानन में,
आ पहुँचा फिर काल वहीं तत्काल निकुञ्ज-भवन में।
अहो! मित्र सुखदास! समय तो भली भांति से बीते!
इस संसार-परीक्षास्थल में तुम हारे या जीते?

(२६)

"अहो! क्या हुए सिर के सुन्दर काले बाल तुम्हारे?"
"जी हां, चालीस वर्ष हुये ये श्वेत हो गये सारे।"

"मित्र ! एक भी दांत नहीं मुँह में अन्न तो दिखता है ?"
"जी हां, बीस पचीस वर्ष से इनका नहीं पता है ॥"

(२७)

"टांगों में क्या हुआ ? कमर क्यों तन न सँभाल रही है ?"
"जी हां, पन्द्रह वर्ष हुये इनमें भी शक्ति नहीं है।"
"सुनते हो कम, मुझे जान पड़ता है बहुत दिनों से ?"
"जी हां, कुछ ऊंचा सुनता हूँ दस बारह वर्षों से ॥"

(२८)

"आंखों में भी तेज नहीं है धुँधलापन है छाया ?"
"जी हां, पांच बरस से यह सब ईश्वर की है माया।"
"अच्छा हो तैयार, तुम्हें ले चलने को हूँ आया,"
सुनते ही सुखदास चकित पीड़ित-सा हा घबराया ॥

(२९)

कहने लगा, "हाय ! मैंने तो कुछ भी की न तयारी,
बातों ही बातों में मैंने उम्र बिता दी सारी।"
समय-चातुरी से धीरज धर फिर उसने की आशा,
बातों ही से पिंड छुड़ाने की उपजी अभिलाषा ॥

(३०)

कहा, "महाशय काल ! निठुर तुम हो, यह विश्व-विदित है,
पर झूठे भी हो, इस गुण से जगत नहीं परिचित है।
पांच सूचनायें देकर तब तुम्हें चाहिये आना,
एक सूचना भी न मिली तुम आ पहुंचे मनमाना ॥"

(३१)

सुन कर युक्ति काल के मुख पर कुछ मुसकाहट आई,
बोला—"ऐ सुखदास ! सूचना पांचों तुमने पाई।
है पहली सूचना सफेदी बालों पर फिर जाना,
तथा दूसरी दांतों का है टूट टूट गिर जाना॥

(३२)

और तीसरी टांग और कटि का निर्बल हो जाना,
चौथी है सूचना कान का निर्गुण हो सो जाना।
और पांचवीं है आंखों में धुँधलापन छा जाना,
तुमने इन पांचों का मिलना स्वयं अभी है माना॥

(३३)

चलो, उठो, अब मैं न सुनूँगा कोई नया बहाना,
समय हाथ से निकल गया अब निष्फल है पछताना"।
व्यथित हुआ सुखदास कर सका कुछ न प्रबंध किसी का,
साथ रहे अरमान लगा जब धक्का काल बली का॥

(३४)

काल पकड़ ले गया गया सुखदास बहुत पछताता,
किन्तु गया वह एक सुखद उपदेश हमें बतलाता।
रात बीत जाती है केवल निद्रा और व्यसन में,
दिन पर-निंदा, राग-द्वेष, अभिमान उदर-पालन में॥

(३५)

सोचो मित्र ! आत्म-चिन्तन का समय कहाँ रह जाता,
हीरा-सा जीवन है यह कौड़ी के बदले जाता।
काल सदा है सावधान हम ग़ाफ़िल क्यों सोते हैं,
क्यों न उच्च जीवन धारण कर कालजयी होते हैं॥

वियोगी हरि

वियोगी हरि जी पुराने भक्तिकाल के सन्त कवियों का चोल्ना लेकर हिन्दी जगत् में उतरे हैं। वही सन्तों की सी रहनी, सन्तों के से भाव और सन्तों की सी भाषा। सन्त उदार कोटि के, भाव वीरता और भक्ति में सने हुए और भाषा मीठी व्रज बोली। आधुनिक काल के व्रजभाषा के श्रेष्ठ कवियों में आपकी गणना होती है। संस्कृत और फारसी साहित्य का अच्छा अध्ययन किया है। गद्य में भी लिखते हैं और उसमें भी सुन्दर कवित्व होता है। वीर रस के पात्र युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर इन चारों पर बहुत सुन्दर दोहे लिखे हैं। ईश्वर-प्रेम और विनय के पद भी बहुत सुन्दर हैं। इन सब में स्थायित्व है। वीर सतसई आप की प्रसिद्ध रचना है;

इस पर आपको मङ्गलाप्रसाद पारितोषक भी मिल चुका है। 'छद्मयोगिनी' और 'वीर हरदौल' आपकी नाटक रचना हैं। 'कवि कीर्तन' 'अनुराग वाटिका' 'व्रज माधुरी सार' आदि निबन्ध और संग्रह ग्रन्थ हैं और 'प्रेमयोग' 'आर्तनाद' और 'सन्त वाणी' बहुत सुन्दर गद्य काव्य।

आपका पूर्व नाम हरिप्रसाद द्विवेदी है। आपका जन्म छत्रपुर राज्य (बुंदेल खण्ड) में सं० १९५३ में हुआ था। बहुत काल तक आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मन्त्री रह कर सम्मेलन पत्रिका का सम्पादन करते रहे हैं। आजकल आप अछूतों की सेवा के उद्देश्य से 'हरिजन' का सम्पादन कर रहे हैं।

———

प्रकृत वीर

प्रकृतबीर कौ अंतहूँ परतु मंद नहिं तेज ।
नहिं चाहतु चंदन चिता भीष्म छाँड़ि सर-सेज ॥
औसर आवत प्रान पै खेलि जाय गहि टेक ।
लाखनु बीच सराहियै प्रकृतबीर सो एक ॥
सुमृदु सिरीष-प्रसून तैं, कठिन बज्र तैं होय ।
प्रकृत-बीर-बर-हीय कौ चित्र न खींच्यौ कोय ॥

पराधीनता

पराधीनता-दुख-भरी कटति न काटैं रात ।
हा ! स्वतंत्रता कौ कबै ह्वैहै पुण्य प्रभात ॥
निजता सों तौ बैरु अब, है परता सों प्रीति ।
निज तौ पर,पर निज भये, कहा दई ! यह रीति ॥

पर-भाषा, पर-भाव, पर-भूषन, पर-परिधान ।
पराधीन जन की अहै यह पूरी पहिचान ॥
पतित वहै, नास्तिक वहै, रोगी वहै मलीन ।
हीन, दीन, दुर्बल वहै, जो जग अहै अधीन ॥
दंभ दिखावत धर्म कौ यह अधीन मति अंध ।
पराधीन अरु धर्म कौ, कहौ कहा संबंध ?
कत भूल्यौ निज देस, मति भई और तें और ।
सहज लेत पहिचानि जब पसु-पंछिहुँ निज ठौर ॥
लियौ धारि पर-भेष अरु पर-भाषा, पर-भाव ।
तुम्हें परायो देखि यौं, क्यों न होय हिय घाव ?
दई छांड़ि निज सभ्यता, निज समाज, निज राज ।
निज भाषाहूँ त्यागि तुम, भये पराये आज ॥
परता में तुम परि गये, नहिं निजता कौ लेस ।
निज न पराये होयँ क्यों, बसौ जाय परदेस ॥
ह्वै पर अब अपनेनु तें करत कहा तुम आस ।
रँगे सियारनु पै कहौ करतु कौन विश्वास ?
मरनु भलो निज धर्म में, भय-दायक परधर्म ।
पराधीन जानैं कहा, यह निज-पर कौ मर्म ॥

स्वाधीनता

निज भाषा निज भाव, निज असन-बसन निज चाल ।
तजि परता, निजता गहू,यह लिखियौ,विधि ! भाल ॥

वही धर्म, वहि कर्म, ब्रत, वहि विद्या, वहि मन्त्र।
जासों निज गौरव-सहित होय स्वदेस स्वतंत्र॥

पराधीन और स्वाधीन

पराधीनु केहि काम कौ, जो सुरपति-सम होय।
सतत सुखी स्वाधीन जनु, धनि, जगतीतल कोय॥
जौ अधीन, तौ छाँड़ियै स्वर्गहुँ त्रिभव-विलास।
जौपै हम स्वाधीन, तौ भलो नरक कौ वास॥
पराधीन जौ जनु, नहीं स्वर्ग नरक ता हेतु।
पराधीन जौ जनु नहीं, स्वर्ग नरक ता हेतु॥

अछूत

अपनावत अजहूँ न जे अपने अंग अछूत।
क्यों करि ह्वैहैं छूत वे करि कारी करतूत॥
जिन पायनु तें जान्हवी भई प्रगटि जग-पूत।
तिनही तें प्रगटे न ए तुम्हरे अनुज अछूत?
सुर-सरि औ अंत्यज दुहूँ अच्युत-पद-संभूत।
भयौ एक क्यों छूत, औ दूजो रह्यौ अछूत?
जौ दोउनु को एक ही कह्यौ जनक जग-वन्द।
तौ सुर-सरि तें घटि कहा यह अछूत, द्विज मन्द!
महा असिव हू सिव भयौ जाहि सीस पै धारि।
छुअत न तासु सहोदरनु, रे द्विज! कहा विचारि॥

बाल विधवा

जहां बाल-विधवा-हियें रहे धँधकि अंगार।
सुख-सीतलता कौ तहां करिहौ किमि संचार?
भलें सुधा सींचौ तहां, फलु न लागिहै कोय।
जहां बाल-विधवान कौ अश्रु-पात नित होय॥
सुर-तरुहू के फरन की मति कीजौ उत आस।
जाय बाल-विधवा निकसि जित ह्वै भरति उसांस॥

विविध

कोरी भोरी भावना ऐहै काम न आज।
बिनु साधैं सुचि साधना नहिं सरिहै कछु काज॥
बिना मान तजि दीजियौ स्वर्गहुँ सुकृत-समेत।
रहौ मान तौ कीजियौ नरकहुँ नित्य निकेत॥
करै जाति स्वाधीन जो, सांचो सोइ सुपूत।
यौंतौ, कहु, केते नहीं कायर कूर कुपूत॥
ऐहैं याही ठौर हम, कहा फिरें जग होत।
जैसे पंछी पोत कौ उड़ि आवतु पुनि पोत॥
को न अनय-मग पगु धर्यौ लहि इहि कुमति-कुदानु?
न्याय-भ्रष्ट भे भीष्महू भखि दुर्योधन-धानु॥
भीरु छिपावतु जीव ज्यौं, कृपनु छिपावतु दामु।
सूर छिपावतु शक्ति त्यौं, चतुर छिपावतु नामु॥

'जराधीन, अँगछीन हौं, दीन, दंत-नख हीन।'
नहिं ऐसी चिंता कहूँ कबहुँ केहरी कीन॥
रचि-रचि कोरी कलपना बहुत जल्प ना मूढ़!
सहज सती अरु सूर कौ गति-रहस्य अति गूढ़॥
निबल, निरुद्यम, निर्धनी, नास्तिक, निपट निरास।
जड़, कादर करि देतु है नरहिं अंधविश्वास॥
कठिन राम कौ काम है, सहज राम कौ नाम।
करत राम कौ काज जे, परत राम सों काम॥
मतवारे सब ह्वै रहे मतवारे मत माहिं।
सिर उतारि सतधर्म पै कोउ चढ़ावत नाहिं॥
बिन सींचें निज हीय तें सद्य रक्त-रस-धार।
कहँ स्वधर्म की लहलही रही डहडही डार॥
नभ जिमि बिन ससि सूर के, जिमि पंछी बिन पांख।
बिना जीव जिमि देह, तिमि बिना ओज यह आंख॥
गये दिवस अब बिभव के, तजि दै बिषय-बिलास।
होय देस स्वाधीन कब, करि वा दिन की आस॥
छिन छांड़त, छिन गहत क्यों, रहत न एकहु ढंग।
पल-पल पलटत नीच तैं नित गिरगिट-ज्यौं रंग॥
हृदय-जीत सी जीत नहिं, भरम भीति-सी-भीति।
धर्म-नीति-सी नीति नहिं, कृष्ण-प्रीति-सी-प्रीति॥
खंड-खंड ह्वै जाय बरु, देतु न पाछें पैंड़।
लरत सूरमा खेत की मरत न छांड़तु मेंड॥

खल-खंडन, मंडन-सुजन, सरल, सुहृद, सविवेक।
गुण-गँभीर, रण-सूरमा मिलतु लाख में एक॥
खल-घालक, पालक-सुजन, सुहृद, सदय गंभीर।
कहूँ एक सत लाख में 'प्रकृत सूर' रण-धीर॥
कहत महादानी उन्हें चाटुकार मतिक्रूर।
पीठिहुँ कौ नहिं देत जे कृपण दान रण-सूर॥
सदय, विवेकी, सत्यव्रत, सुहृद लेखियतु सूर।
अविवेकी, क्रोधी, कुटिल, कादर कहियतु क्रूर॥
मति मन-मानिक सौंपियौ, कुटिल-कादरनु हाथ।
हैं वै ही सतजौहरी, नहिं जिन धर पै माथ॥
कादर वीरनु संग मिलि, भलैं अलापहिं राग।
छिपत न अंत वसंत में, कैसेहुँ कोयल काग॥
औघट घाट कृपाण कौ, समर-धार बिनु पार।
सनमुख जे उतरे, तरे, परे विमुख मँझधार॥
धनि धनि, सो सुकृती व्रती, सूर-सूर सतसंध।
खड्ग खोलि खुलि खेत पै खेलतु जासु कबंध॥
कादर भये न सूर-सुत, करि देख्यौ निरधार।
नहिं सिंहिनि के गर्भ तें, उपजे कबहुँ सियार॥
कादर तौ जीवित मरत दिन में बार हजार।
प्रान-पखेरू वीर के उड़त एकहीं बार॥
अरे, फिरत कत, बावरे! भटकत तीरथ भूरि।
अजौं न धारत सीस पै सहज सूर-पग-धूरि॥

संगर-सौंहैं सूर जहँ, भये भिरत चकचूरि।
बड़भागन तें मिलति वा रण-आंगन की धूरि ॥

जे जन लोभी सीस के, ते अधीन दिन-दीन।
सीसु चढ़ायें बिनु भयौ, कहौ, कौन स्वाधीन ?

अहे मधुप ! गज-गंड-मदु पीजौ सोचि-बिचारि।
छिन में हीं या कुंभ कों दैहै सिंह बिदारि ॥

नहिं पावसु, नहिं घन-घटा, भई किते यह घोर ?
करतु मत्त मृगराजु कहुँ, बिसें बीस बन रोर ॥

जयशंकर प्रसाद

बाबू जयशंकर प्रसाद का जन्म काशी में सं० १९४६ में हुआ था। उनके पिता का नाम बाबू देवीप्रसाद था। उनका अध्ययन प्रायः घर पर ही हुआ था। इतिहास, बौद्ध साहित्य, दर्शन शास्त्र और उपनिषद् ऐसे गंभीर विषयों में उन्हें बहुत प्रीति थी। बाबू देवीप्रसाद जी विद्वानों और कवियों का ख़ूब आदर करते थे। प्रायः हफ़्ते में एक बार घर पर कवियों की बैठक जमती थी, उन कवियों के साधु संग से ही प्रसादजी को किशोरावस्था में कविता करने का चाव लगा था। पहले पहल वे ब्रज-बोली में ही कविता करते थे किन्तु थोड़े काल के बाद ही ज़माने के रुख़ को देख कर उन्होंने यह प्रवृत्ति बदली और वे खड़ीबोली में कविता करने लगे।

नव-नव उन्मेष-शालिनी प्रतिभा, व्यापक अध्ययन, गम्भीर चिन्तन और सुन्दर शिक्षा-अभ्यास—कविता के लिये यह सब सामग्री चाहिए। प्रसादजी में इनमें से एक की भी कमी नहीं थी। इसीलिये वे हिन्दी के कवि ही नहीं, एक महाकवि सिद्ध हुए। हिन्दी कविता में उन्होंने एक भव्ययुग की अवतारना की है। ऐसा जान पड़ता है, भारतेन्दु की आत्मा ही अपने शेष की पूर्ति के लिये नया चोला लेकर फिर से काशी में उतरी हो।

प्रसादजी की कविता में कविता का हृदय—करुण रस मौजूद है। उनकी भावुक कूँची का योग पाकर दुःख एक उपादेय वस्तु हो गया है। विरह वेदना के जो चित्र उन्होंने खींचे हैं, उनसे ऐसा जान पड़ता है कि यह वेदना शाप नहीं, वर-वस्तु है, ईश्वर का प्रसाद है। उसमें आशा के दर्शन होते हैं। सूफियों के से प्रेम को उन्होंने अपनाया है किन्तु उसके चित्रण का ढंग बिल्कुल अनूठा है। उसमें वियोग और मिलन बहुत ऊँची वस्तु हैं, उनमें वासना ज़रा भी छू नहीं पाई। मनुष्य को प्रकृति में प्रतिछायित दिखा कर उन्होंने छायावाद की सृष्टि की है और सकल विश्व में अव्यक्त ईश्वर की खोज कर रहस्यवाद की। वे जगत् को ईश्वर से भिन्न नहीं समझते; उनके लिये जगत् मिथ्या नहीं, वह ईश्वर की लीला-स्थान है; जहाँ कहीं वह आप ही खेल रहा है। उनकी कविता में जहाँ देखिए, उनके गम्भीर चिन्तन और दार्शनिकता के दर्शन होते हैं। उनके रहस्यवाद में भावुकता है, सजीवता है, वह उथली कल्पना का विषय नहीं।

प्रसादजी हिन्दी में भिन्नतुकान्त कविता के सब से पहले जन्मदाता हैं। समय था कि उनकी इस शैली की हँसी उड़ाई जाती थी किन्तु

अब वह बात कहाँ है ? अब तो हिन्दी के प्रायः सब नवीन कवि उनकी इस शैली का अनुसरण करने में अपना गौरव समझते हैं।

प्रसादजी की प्रतिभा का विकास सर्वतोमुखी हुआ है । उन्होंने केवल सुन्दर कविता ही नहीं की बल्कि सुन्दर और अपूर्व कहानियाँ, उपन्यास और नाटक भी लिखे हैं। 'प्रेमपथिक' 'झरना' 'काननकुसुम' 'आँसू' 'लहर' 'कामायनी' उनके अनुपम काव्य अथवा कविता-संग्रह हैं। इन सब में 'कामायनी' उनकी अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ रचना है । 'अजातशत्रु' 'जनमेजय का नागयज्ञ' 'स्कन्दगुप्त' और 'कामना' उनके आदर्श नाटक हैं और 'कंकाल' 'तितली' समाज का निर्माण करने वाले महत्त्वपूर्ण उपन्यास। 'आँधी' 'प्रतिध्वनि' और 'आकाश दीप' आदि उनकी मौलिक ढंग की सुन्दर कहानियों के संग्रह हैं । ऐसी रचनाओं के नाते उनको हिन्दी का रवीन्द्रबाबू कहा जाये तो कुछ अत्युक्ति नहीं होगी । यह हिन्दी का दुर्भाग्य था कि वे संवत् १९९४ में केवल ४८ वर्ष की आयु में ही उसे बिछोह देकर इस लोक से चल बसे ।

प्रार्थना

जब प्रलय का हो समय, ज्वालामुखी निज मुख खोल दे;
सागर उमड़ता आ रहा हो, शक्ति-साहस बोल दे।
ग्रह गण सभी हों केन्द्र-च्युत, लड़ कर परस्पर भग्न हों;
उस समय भी हम हे प्रभो! तव पद्म-पद में लग्न हों।
हम हों सुमन की सेज पर, या कंटकों की बाड़ में;
पर प्राणधन! तुम छिपे रहना, इस हृदय की आड़ में।
हम हों कहीं इस लोक में, उस लोक में, भूलोक में;
तव प्रेम पथ में ही चलें, हे नाथ! तव आलोक में।

आदेश

कौन कहता है कानों में,
किसी का कहना तू मत मान

अन्ध विश्वास दिलाते वे,
　　　　इसी में बनते हैं विद्वान ॥
शुद्ध मानस की लहरी लोल,
　　　　पंक्तियां पावन लिखीं विचित्र ।
छोड़ ममता पढ़ ले इसको,
　　　　यही है शुभ आदेश महान ॥
तोड़ कर बाधा बन्धन भेद,
　　　　भूल जा अहमिति का यह स्वार्थ ।
सुधा भर ले जीवन घट में,
　　　　द्वन्द्व का विष मत कर तू पान ॥
प्रार्थना और तपस्या क्यों ?
　　　　पुजारी किसकी है यह भक्ति ।
डरा है तू निज पापों में,
　　　　इसी से करता निज अपमान ॥
दुखी पर करुणा क्षण भर हो,
　　　　प्रार्थना पहरों के बदले ॥
मुझे विश्वास है कि वह सत्य,
　　　　करेगा आकर तव सम्मान ॥

आँसू

चातक की चकित पुकारें
श्यामा-ध्वनि तरल रसीली

मेरी करुणार्द्र-कथा की
टुकड़ी आंसू से गीली।

बेसुध जो अपने सुख से
जिनकी हैं सुप्त व्यथायें
अवकाश भला है किनको
सुनने की करुण कथायें।

जीवन की जटिल समस्या
है बढ़ी जटा सी कैसी
उड़ती है धूल हृदय में
किसकी विभूति है ऐसी?

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति सी छाई
दुर्दिन में आंसू बन कर
वह आज बरसने आई।

शीतल ज्वाला जलती है
ईंधन होता दृग-जल का
यह व्यर्थ सांस चल-चल कर
करती है काम अनिल का।

बस गई एक बस्ती है
स्मृतियों की इसी हृदय में,
नक्षत्र-लोक फैला है
जैसे इस नील निलय में।

अशोक की चिन्ता

जलता है यह जीवन-पतंग

जीवन कितना? अति लघु क्षण,
ये शलभ पुञ्ज से कण-कण,
तृष्णा वह अनल शिखा बन—
दिखलाती रक्तिम यौवन।
जलने की क्यों न उठे उमंग?

है ऊँचा आज मगध-शिर—
पदतल में विजित पड़ा गिर;
दूरागत क्रन्दन-ध्वनि फिर
क्यों गूँज रही है अस्थिर—
कर विजयी का अभिमान भंग?

इन प्यासी तलवारों से,
इनकी पैनी धारों से,
निर्दयता की मारों से,
उन हिंसक हुंकारों से,
नत-मस्तक आज हुआ कलिंग।

यह सुख कैसा शासन का?
शासन रे मानव मन का!
गिरि-भार बना सा तिनका,
यह घटाटोप दो दिन का—
फिर रवि शशि किरणों का प्रसंग!

यह महा दम्भ का दानव—
पीकर अनंग का आसव—
कर चुका महा भीषण रव,
सुख दे प्राणी को मानव—
तज विजय-पराजय का कुढंग।

संकेत कौन दिखलाती,
मुकुटों को सहज गिराती,
जयमाला सूखी जाती,
नश्वरता गीत सुनाती,
तब नहीं थिरकते हैं तुरंग।

वैभव की यह मधुशाला,
जग पागल होने वाला,
अब गिरा—उठा मतवाला,
प्याले में फिर भी हाला,
यह क्षणिक चल रहा राग-रंग।

काली काली अलकों में,
आलस, मद-नत पलकों में,
मणि मुक्ता की झलकों में,
सुख की प्यासी ललकों में,
देखा क्षण-भंगुर है तरंग।

फिर निर्जन उत्सव-शाला,
नीरव नूपुर श्लथ माला,

सो जाती है मधुबाला,
सूखा लुढ़का है प्याला,
बजती वीणा न वहाँ मृदंग ।

इस नील विषाद गगन में—
सुख चपला-सा दुख-घन में,
चिर विरह नवीन मिलन में,
इस मरु-मरीचिका-वन में—
उलझा है चंचल मन-कुरंग ।

आँसू कन-कन ले छल छल—
सरिता भर रही दृगंचल,
सब अपने में है चंचल,
छूटे जाते सूने पल,
खाली न काल का है निषंग ।

वेदना विकल यह चेतन,
जड़ का पीड़ा से नर्तन,
लय सीमा में यह कम्पन,
अभिनयमय है परिवर्तन,
चल रहा यही कब से कुढंग।

करुणा-गाथा गाती है,
यह वायु बही जाती है,

ऊषा उदास आती है,
मुख पीला ले जाती है,
वन मधु पिङ्गल सन्ध्या सुरंग।

आलोक किरन है आती,
रेशमी डोर खिंच जाती,
दृग पुतली कुछ नच पाती,
फिर तम-पट में छिप जाती,
कलरव कर सो जाते विहंग।

जब पल भर का है मिलना,
फिर चिर वियोग में झिलना,
एक ही प्रात है खिलना,
फिर सूख धूल में मिलना,
तब क्यों चटकीला सुमन-रंग ?

संसृति के विक्षत पग रे!
यह चलती है डगमग रे!
अनुलेप सदृश तू लग रे!
मृदु दल बिखेर इस मग रे!
कर चुके मधुर मधु पान भृंग।

भुनती वसुधा, तपते नग,
दुखिया है सारा अग-जग,
कंटक मिलते हैं प्रति पग,
जलती सिकता का यह मग,

बह जा बन करुणा की तरंग,
जलता है यह जीवन पतंग।

कर्म-लोक

(१)

"मनु यह श्यामल कर्म लोक है
धुँधला कुछ कुछ अंधकार सा;
सघन हो रहा अविज्ञात यह
देश मलिन है धूम धार सा।

(२)

कर्म-चक्र सा घूम रहा है
यह गोलक, बन नियति प्रेरणा;
सब के पीछे लगी हुई है
कोई व्याकुल नयी एषणा।

(३)

श्रम-मय कोलाहल, पीड़न-मय
विकल प्रवर्त्तन महायंत्र का;
क्षणभर भी विश्राम नहीं है
प्राण दास है क्रिया तंत्र का।

(४)

करते हैं संतोष नहीं है
जैसे कशाघात प्रेरित से—

प्रति क्षण करते ही जाते हैं
भीति विवश ये सब कंपित से।

(५)

नियति चलाती कर्मचक्र यह
तृष्णा जनित ममत्व वासना;
पाणि-पादमय पंच-भूत की
यहां हो रही है उपासना।

(६)

यहां सतत संघर्ष, विफलता
कोलाहल का यहां राज है;
अंधकार में दौड़ लग रही
मतवाला यह सब समाज है।

(७)

यहां शासना देश घोषणा
विजयों की हुंकार सुनाती;
यहां भूख से विकल दलित को
पदतल में फिर फिर गिरवाती।

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला

मेदनीपुर बङ्गाल में महिषादल एक छोटी सी रियासत है। पं० रामसहाय जी त्रिपाठी उस रियासत के एक राज्य कर्मचारी थे। निराला जी उन्हीं की एक मात्र सन्तान हैं। उनका जन्म सं० १९५५ में हुआ था। उनकी शिक्षा की व्यवस्था रियासत की ओर से हुई, वे स्कूल में मैट्रिक्यूलेशन तक पढ़े। कविता करने का चाव उन्हें बचपन से ही लगा था। मातृ-भाषा बङ्गला होने के कारण पहले पहल कविता की भाषा भी बङ्गला ही रही। हिन्दी उन्होंने स्कूल-काल के बहुत पीछे ही सीखी। स्कूल छोड़ कर उन्होंने संस्कृत-साहित्य, संगीत और दर्शन का अध्ययन किया और थोड़े ही काल में इन सब में दक्षता प्राप्त कर ली।

२० वर्ष की अवस्था में उनकी पत्नी का देहान्त हो गया और वे अपना घर छोड़ कर कलकत्ते में आगये। वहाँ श्रीरामकृष्ण आश्रम में रह कर उन्होंने परमहंस श्री रामकृष्णदेव और स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक विचारों का अध्ययन किया। इन विचारों की छाप उनके हृदय पर गहरी पड़ी। वे दो वर्ष तक उस आश्रम के वेदान्त सम्बन्धी मासिक पत्र 'समन्वय' का सम्पादन भी करते रहे। आश्रम और उसके इस पत्र से उनकी प्रतिभा को बहुत स्फूर्ति मिली। 'समन्वय' छोड़ने के बाद वे 'मतवाला' के सम्पादकीय मण्डल में आगये। 'मतवाला' का सम्पर्क भी उनके लिये एक स्वर्णयोग सिद्ध हुआ। उनकी कविता के क्षेत्र यही दोनों पत्र थे।

इस निरालेपन की कविता ने ही कवि को 'निराला' नाम दिया है। स्वच्छंद छंदों के साथ भाव भी स्वच्छंद हैं। उनकी व्यञ्जना का प्रकार बिल्कुल अनूठा है, शब्दों और भावों दोनों में संगीत भरा है।

वे एकात्मवाद के समर्थक एक रहस्यवादी हैं। अपनी आत्मा में परमात्मा को देखते हैं। किन्तु भक्तिभाव इनके हृदय से फिर भी नहीं छूटा। वे परमात्मा को अलग रख कर ही उसकी पूजा करना श्रेयस्कर समझते हैं। इनके हृदय में उसके लिये प्रेम भरा है। उसके मिलन के लिये वे कितनी बार तड़प उठते हैं और वे अपनी इस व्यथा और वेदना को कभी काल्पनिक नहीं बतलाते। इनकी दृष्टि में यह संसार दुखमय है, इससे छूटने के लिये ईश्वर की शरण लिये बिना और कोई उपाय नहीं है। इसीलिये इन्होंने एक दूसरे लोक—परलोक की भी सृष्टि कर डाली है।

'अनामिका' इनकी पहली स्फुट रचनाओं का संग्रह है। इसमें बहुत सी कविताएं ऐसी हैं, जो परमहंस श्री रामकृष्णदेव के जीवन से सम्बन्ध

रखने वाली तथा स्वामी विवेकानंद की अपनी कविताओं का ठेठ हिन्दी में अनुवाद हैं। 'परिमल' और 'गीतिका' में प्रायः सभी रचनाएँ उनकी अपनी हैं, उनमें किसी की भी छाया नहीं है। किन्तु ढंग वही बङ्गाली है। संगीत-माधुर्य, कल्पना-सौष्ठव, प्रकृति का सूक्ष्म-दर्शन चित्र-चित्रण एक से एक सुन्दर बन पड़े हैं।

'तुलसीदास' इनका खण्डकाव्य है, रचना का ढंग वही नया और चरित्र-चित्रण बिल्कुल विलक्षण। यह उनकी नवीनतम रचना है और सब रचनाओं में श्रेष्ठ। कवि तुलसीदास के प्रति उनकी कितनी गाढ़ श्रद्धा है, यह पढ़ने से ज्ञात हो सकता है।

'अप्सरा' 'अलका' 'निरुपमा' और 'प्रभावती' इनकी उपन्यास रचनाएं हैं और 'उषा' नाम की एक नाटिका। 'लिली' और 'सखी' सुन्दर कहानियों के संग्रह हैं। 'रवीन्द्र-कविता-कानन' में रवीन्द्र बाबू की सुन्दर कविताओं का परिचय दिया गया है। उसमें ये सुन्दर तर्ककुशल समालोचक के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। 'कुल्ली भाट' इनकी व्यंग्य रचना है, जिसमें अपना जीवन परिचय भी दिया गया है। 'रामचरितमानस' की एक टीका भी की है जो अभी अप्रकाशित है। बच्चों और युवकों के काम के कई जीवन-चरित्र भी लिखे हैं। इनकी गद्यशैली भी भावना-प्रधान है। ये सुन्दर गायक भी हैं। इनका गाना बहुत मधुर होता है।

इनके सम्बन्ध में एक शिकायत की जाती है—इनकी भावव्यञ्जना का प्रकार बहुत टेढ़ा है। यह बात केवल पद्य में ही नहीं है बल्कि गद्य में भी है। यही इनको समझने के, इन तक पहुँचने के मार्ग में एक कठिन घाटी है। पर यह दोष सब जगह नहीं है। बहुत सी रचनाएं इस दोष से

मुक्त भी हैं। कुछ अरबी फारसी शब्दों का बेजोड़ प्रयोग अवश्य खटकने वाला है। कुल मिलाकर इनकी भाषा को कोमल और कान्त कहना चाहिए। अधिकांश रूप से इनके गद्य में संस्कृत के ललित शब्दों का प्रयोग मिलता है। इनके छंदों के सम्बन्ध में यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि वे मात्रा और वर्ण के बन्धनों से बिल्कुल मुक्त होते हुए भी संगीत की माधुरी से खाली नहीं हैं, उनमें भी नियम से काम लिया गया है। वाचन-कला (Art of Reading) को जानने वाला उनके माधुर्य का आनन्द ले सकता है।

तुम और मैं

तुम तुङ्ग हिमालय शृंग, और मैं चंचल-गति सुर-सरिता।
तुम विमल हृदय-उच्छ्वास, और मैं कान्त-कामिनी-कविता॥

तुम प्रेम और मैं शान्ति,
तुम सुरा-पान-घन अन्धकार,
मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति।

तुम दिनकर के खर किरण-जाल, मैं सरसिज की मुसकान।
तुम वर्षों के बीते वियोग, मैं हूँ पिछली पहचान॥

तुम योग और मैं सिद्धि,
तुम हो रागानुग निश्चल तप,
मैं शुचिता सरल समृद्धि।

तुम मृदु मानस के भाव, और मैं मनोरञ्जिनी भाषा।
तुम नन्दन-वन-घन विटप, और मैं सुख-शीतल-तल शाखा॥

तुम प्राण और मैं काया,
तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म,
मैं मनोमोहिनी माया।

तुम प्रेममयी के कण्ठहार, मैं वेणी काल-नागिनी।
तुम कर पल्लव-झंकृत सितार, मैं व्याकुल विरह-रागिनी॥

तुम पथ हो, मैं हूँ रेणु,
तुम हो राधा के मनमोहन,
मैं उन अधरों की वेणु।

तुम पथिक दूर के श्रान्त, और मैं बाट जोहती आशा।
तुम भवसागर दुस्तार पार, जाने की मैं अभिलाषा॥

तुम नभ हो, मैं नीलिमा,
तुम शरत-काल के बाल-इन्दु,
मैं हूँ निशीथ-मधुरिमा।

तुम गन्ध-कुसुम-कोमल पराग, मैं मृदुगति मलय-समीर।
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष, मैं प्रकृति-प्रेम-ज़ञ्जीर॥

तुम शिव हो, मैं हूँ शक्ति,
तुम रघुकुल-गौरव रामचन्द्र,
मैं सीता अचला भक्ति।

तुम आशा के मधुमास और मैं पिक-कल-कूजन तान।
तुम मदन पंच-शर-हस्त, और मैं हूँ मुग्धा अनजान॥

तुम अम्बर, मैं दिग्वसना,
तुम चित्रकार,घन-पटल श्याम,
मैं तड़ित्तूलिका रचना ।

तुम रण-ताण्डव-उन्माद नृत्य, मैं मुखर-मधुर नूपुर-ध्वनि।
तुम नाद-वेद ओंकार सार, मैं कवि-शृंगार-शिरोमणि ॥

तुम यश हो, मैं हूँ प्राप्ति,
तुम कुन्द-इन्दु-अरविन्द शुभ्र,
तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति ।

मुक्ति

(गीत)

तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा
पत्थर की, निकलो फिर
गङ्गा-जल-धारा !

गृह-गृह की पार्वती !
पुनः सत्य-सुन्दर-शिव को सँवारती
उर-उर की बनी आरती !—
भ्रान्तों की निश्चल ध्रुव-तारा ।
तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा !

जलद के प्रति

जलद नहीं,—जीवनद, जिलाया
जब कि जगज्जीवन्मृत को ।
तपन-ताप-सन्तप्त तृषातुर
तरुण-तमाल-तलाश्रित को ।
पय-पीयूष-पूर्ण पानी से
भरा प्रीति का प्याला है।
नव वन, नव जन, नव तन, नव मन,
नव घन ! न्याय निराला है।
भौंएँ तान दिवाकर ने जब
भू का भूषण जला दिया ।
मां की दशा देखकर तुमने
तब विदेश प्रस्थान किया,
वहां! होशियारों ने तुमको
खूब पढ़ाया, बहकाया,
'द' जोड़ ग्रेड बढ़ाया, तुम पर
जाल फूट का फैलाया,
'जल' से "जलद" कहा, समझाया
भेद तुम्हें ऊँचे बैठाल,
दाएँ-बाएँ लगे रहे, जिससे
तुम भूलो जाती ख्याल,

किन्तु तुम्हारे चारु चित्त पर
खिंची सदा माँ की तस्वीर,
क्षीण हुआ मुख, छलक रहा उन
नलिनी-दल-नयनों से नीर।
पवन-शत्रु ने तुम्हें उतरते देख
उड़ाया पथ - अम्बर,
पर तुम कूद पड़े, पहनाया
माँ को हरा वसन सुन्दर;
धन्य तुम्हारे भक्ति-भाव को
दुःख सहे, डिगरी खोई,
ऊर्ध्वंग जलद ! बने निमग्न जल,
प्यारे प्रीति-बेलि बोई !

भिक्षुक

वह आता—

दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिल कर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए,
बाएँ से वे मलते हुए पेट को चलते,

और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए।
भूख से सूख ओंठ जब जाते,
दाता—भाग्य-विधाता से क्या पाते?—
घूँट आंसुओं के पीकर रह जाते।
चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।
ठहरो अहा मेरे हृदय में है अमृत, मैं सींच दूंगा,
अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम
तुम्हारे दुःख मैं अपने हृदय में खींच लूंगा।

"वर दे, वीणावादिनि वर दे!"

वर दे, वीणावादिनि वर दे!
प्रिय स्वतन्त्र-रव अमृत-मन्त्र-नव,
भारत में भर दे!

काट अन्ध-उर के बन्धन-स्तर
बहा जननि, ज्योतिर्मय निर्झर;
कलुष भेद-तम हर प्रकाश भर
जगमग जग कर दे।

नवगति, नवलय, ताल-छन्द नव,
नवल कण्ठ, नव जलद-मन्द्र रव;
नव नभ के नव विहग-वृन्द को
नव पर, नव स्वर दे।

महत्त्वाकांक्षा

नर-जीवन के स्वार्थ सकल
बलि हों तेरे चरणों पर, माँ,
मेरे श्रम-सञ्चित सब फल।

जीवन के रथ पर चढ़ कर,
सदा मृत्यु-पथ पर बढ़ कर,
महाकाल के खरतर शर सह
सकूँ, मुझे तू कर दृढ़तर;
जागे मेरे उर में तेरी
मूर्ति अश्रुजल-धौत विमल,
दृग-जल से पा बल, बलि कर दूँ
जननि, जन्म-श्रम-संचित फल।

बाधाएं आयें तन पर,
देखूँ तुझे, नयन-मन भर,
मुझे देख तू सजल दृगों से
अपलक, उर के शतदल पर;
क्लेदयुक्त अपना तन दूँगा,
मुक्त करूँगा तुझे अटल,
तेरे चरणों पर देकर बलि
सकल श्रेय—श्रम-सिञ्चित फल।

सुमित्रानन्दन पन्त

पन्तजी का जन्म प्रकृतिसुन्दर अल्मोड़ा प्रदेश के कसौनी गाँव में हुआ था। जन्म संवत् १९५८ है। आपके पिता एक सम्पन्न, सुशिक्षित और सम्मानित व्यक्ति थे। शिक्षा आपने अंग्रेजी की इंटर-मीडिएट तक प्राप्त की है। आपकी कविता का श्रीगणेश तब हुआ जब आप दसवीं कक्षा में पढ़ते थे। उसमें जो हम अभिनव सुन्दर और सलोना रूप देखते हैं, वह आपके कालेज के अध्यापक अंग्रेजी साहित्य के विद्वान पं० शिवाधार पाण्डेय की प्रेरणा का फल है। कालेज छोड़ने के बाद से अंग्रेजी, बङ्गला और संस्कृत के ललित साहित्य का अध्ययन और कविता करना आपके जीवन का ध्येय होगया है। सुन्दर रम्यस्थल पर्वत प्रदेश में जन्म लेने के कारण कविता की सृष्टि के लिये प्रकृति के सभी

उपकरण आपको प्राप्त हुए हैं और उनका प्रयोग भी आपने यथेष्ट परिमाण में किया है। कविता का प्राण—कल्पना आपकी सहचरी है। कोमल और सुन्दर भावों के आप उपासक हैं। खरखरी और कर्कश खड़ी-बोली इस योग्य नहीं थी कि आपके इन भावों को व्यक्त कर सकती इसलिये आपने इस खड़ीबोली का कायाकल्प किया है; उसे बिल्कुल नया रूप दिया है—उसके कलेवर को बदल कर उसमें कोमल कान्त पदावली की प्रतिष्ठा की है। उसे छंदों के भी पुराने बन्धनों से मुक्त कर उसके लिये बङ्गला के नये ढंग के छंदों का निर्माण किया है। केवल इतना ही नहीं, उसके विषय और उसकी रूपवर्णना को भी बदल दिया है। एक प्रकृत कवि की प्रतिभा नये युग का निर्माण करती है, अपना नया पथ बनाती है। वह भेड़ियाधसान वृत्ति का कभी अनुसरण करना नहीं चाहती, किसी प्राचीन निर्दिष्ट स्थान पर विश्राम नहीं लेती।

पन्तजी का अध्ययन बहुत विस्तृत है। इन्होंने पूर्व और पश्चिम के साहित्य को अच्छी तरह से पढ़ा है, बङ्गला की कोकिल-वाणी का रसा-स्वादन किया है, भारतीय दर्शन शास्त्र को समझा है। इसीलिये ये बहुत ऊँचे उठे हैं। इनकी कल्पना उदात्त और सुन्दर है। इनके भावों में अनूठापन और आकर्षण है। इन्होंने प्रकृति और मानवता के बीच में मधुर सम्बन्ध की स्थापना की है। इनकी दृष्टि में प्रकृति देवी की प्रत्येक हलचल—क्रिया-विक्रिया, शान्ति-उत्क्रान्ति, सुख-दुख, आरोह-अवरोह जो कुछ भी है, उसके वरपुत्र मानव के लिये मीठा जीवनभोज है, सुन्दर झूलना है।'युगान्त' और 'युगवाणी' इनकी नवीनतम रचनाएँ हैं उनमें इन्होंने कार्ल मार्क्स के साम्यवाद और विश्वप्रेम की भावना पर फूल चढ़ाये हैं। ये सुख और

दुख का बराबर से बटवारा करना चाहते हैं, उनमें समता लाना इनका ध्येय है।

'वीणा' पन्तजी की पहली स्फुट रचनाओं का संग्रह है। इन पहली पहली रचनाओं को पढ़ने से जान पड़ता है, कवि स्वर्ग लोक से उतरे हैं और हमें नवीन संदेश सुना रहे हैं। इन रचनाओं में मधुर और सुन्दर भावों का गान किया गया है। उनमें 'कल्पना' को कहीं स्थान नहीं दिया गया। स्वर्गीयसंदेश में वास्तविकता नहीं होगी तो कोई विश्वास ही क्या करेगा!

'ग्रन्थि' करुणारसप्रधान अतुकान्त श्रेणी का खण्डकाव्य है। इसमें ये पूरी तरह से चमके हैं। इसके दुखान्त और करुणा के गीत मानवलोक को स्वर्गलोक बनाते हैं। यह इनकी अनूठी रचना है।

'पल्लव' में भी स्फुट रचनाएं संगृहीत हैं। इसमें इनके भाव गम्भीर हैं और कल्पना बहुत ऊँची। प्रकृति के अभिराम और नयन-सुन्दर चित्र उतारने में इन्हें लोकोत्तर सफलता प्राप्त हुई है। इसमें पश्चिमी और भारतीय दर्शनों के भावों में सामंजस्य उत्पन्न किया गया है। कला की दृष्टि से यह इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। 'ज्योत्स्ना' एक कल्पना-प्रधान नाटिका है। इसमें छोटी सी एक काल्पनिक कहानी है। ज्योत्स्ना के बाद की उनकी रचना है—'युगान्त' और 'युगवाणी', जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।

'पाँच कहानी' में पाँच सुन्दर कहानियाँ हैं। इसमें भी स्थान स्थान पर कला के दर्शन होते हैं।

'गुञ्जन' उनकी चौथी रचना है। उसमें आशा-निराशा और सुख दुःख आदि इन सब द्विविध भावों से सहानुभूति प्रकट की गई है। उनका मानव जीवन के साथ सम्बन्ध जोड़ा गया है, उन्हें आदर्श जीवन का

आधार बतलाया गया है। इसमें इनकी कोरी कल्पना ही काम नहीं करती बल्कि पग पग पर अनुभूति के भी दर्शन होते हैं।

एक इनका उपन्यास 'हार' अभी छपा नहीं, वह नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रहालय में सुरक्षित है। उमर ख़ैयाम की रुबाइयों का भी इन्होंने उत्तम अनुवाद किया है।

पन्तजी का भाषा पर पूर्ण अधिकार है, भाषा के बन्धन तोड़ने में इन्होंने कविजनोचित पूरी स्वतन्त्रता से काम लिया है। पुँल्लिंग शब्दों को स्त्रीलिंग और स्त्रीलिंग को पुँल्लिंगवाची बना दिया है। क्रियापदों को प्रायः उठा ही दिया है। इस सम्बन्ध में इनके कई विरोधी भी पैदा हो गये हैं। परन्तु यह विरोध कुछ अच्छा नहीं लगता इस विषय में अपनी ओर से कुछ न कह कर हम मराठी के प्रतिनिधि कवि 'केशवसुत' के विचार रखते हैं।

"हम व्याकरण के नियमों पर कब ध्यान देने लगे। यदि हम उसका नियन्त्रण स्वीकार करें तो सत्काव्य का निर्माण कैसे हो सकेगा? जो लोग केवल व्याकरण की दृष्टि से काव्य में माधुर्य देखने का व्यसन रखते हैं उन्हें समझना चाहिए कि हमारी काव्य कला की सृष्टि उनके लिये नहीं होती।"

पन्तजी ने अपनी कविता को सुन्दर सुन्दर अलङ्कार भी पहिनाए हैं। रूपक, उत्प्रेक्षा और उपमा के शृंगार से उसका सौंदर्य खिल उठा है। समासान्त पदों का प्रयोग उन्हें बहुत प्रिय है। कहीं कहीं इस शैली ने भावों को दुरूह भी बना दिया है।

कुसुम-जीवन

कुसुमों के जीवन का पल
हँसता ही जग में देखा,
इन म्लान, मलिन अधरों पर
स्थिर न रही स्मिति की रेखा।

बन की सूनी डाली पर
सीखा है कलि ने मुसकाना,
मैं सीख न पाया अब तक
सुख से दुख को अपनाना।

कांटों से कुटिल भरी हो
यह जटिल जगत की डाली,
इसमें ही तो जीवन के
पल्लव की फूटी लाली।

अपनी डाली के काँटे
वेधते नहीं अपना तन
सोने-सा उज्ज्वल बनने
तपता नित प्राणों का धन।

दुख-दावा से नव-अंकुर
पाता जग-जीवन का वन,
करुणार्द्र विश्व की गर्जन
बरसाती नव-जीवन-कण!

सुख दुख

सुन्दर विश्वासों से ही
बनता रे सुखमय-जीवन,
ज्यों सहज-सहज साँसों से
चलता उर का मृदु स्पन्दन।

हँसने ही में तो है सुख
यदि हँसने को होवे मन,
भाते हैं दुख में आते
मोती-से आँसू के कण!

महिमा के विशद-जलधि में
हैं छोटे-छोटे-से कण,
अणु से विकसित जग-जीवन,
लघु अणु का गुरुतम साधन!

जीवन के नियम सरल हैं,
पर है चिर-गूढ़ सरलपन;
है सहज मुक्ति का मधु-क्षण,
पर कठिन मुक्ति का बन्धन !

"तप रे मधुर-मधुर मन !"

तप रे मधुर-मधुर मन !

विश्व-वेदना में तप प्रति-पल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष, उज्ज्वल औ' कोमल,
तप रे विधुर-विधुर मन !

अपने सजल-स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्त्ति पूर्णतम,
स्थापित कर जग में अपनापन,
ढल रे ढल आतुर मन !

तेरी मधुर-मुक्ति ही बन्धन,
गन्ध-हीन तू गन्ध-युक्त बन,
निज अरूप में भर स्वरूप, मन !
मूर्त्तिवान बन, निर्धन !
गल रे गल निष्ठुर-मन !

"जीवन का श्रम-ताप हरो"

जीवन का श्रम-ताप हरो, हे !
सुख-सुखमा के मधुर-स्वर्ण से
सूने जग-गृह-द्वार भरो, हे !

लौटे गृह सब श्रांत चराचर,
नीरव तरु-अधरों पर मर्मर,
करुणानत निज कर-पल्लव से
विश्व-नीड़ प्रच्छाय करो, हे ! जी०

उदित शुक्र, अब अस्त भानु-बल,
स्तब्ध पवन, नत-नयन पद्म-दल,
तंद्रिल पलकों में निशि के शशि !
सुखद स्वप्न बन कर विचरो, हे ! जी०

जीवन का अधिकारी

जो है समर्थ, जो शक्तिमान,
जीने का है अधिकार उसे।
उसकी लाठी का बैल विश्व,
पूजता सभ्य - संसार उसे !

दुर्बल का घातक दैव स्वयं,
समझो बस भू का भार उसे।
'जैसे को तैसा'—नियम यही,
होना ही है संहार उसे।

है दास परिस्थितियों का नर,
रहना उनके अनुसार उसे।
जीता है योग्य सदा जग में,
दुर्बल ही है आहार उसे!

तृण, झष, पशु से नर-तन देता,
जीवन-विकास का तार उसे।
वह शासन क्यों न करे भू पर,
चुनना है सबका सार उसे। जो०

छाया

कहो कौन हो दमयन्ती-सी
तुम तरु के नीचे सोई?
हाय! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि! नल-सा निष्ठुर कोई!

पीले-पत्रों की शय्या पर
तुम विरक्ति-सी, मूर्छा-सी,
विजन-विपिन में कौन पड़ी हो
विरह-मलिन, दुख-विधुरा-सी?

तुम पथ-श्रान्ता द्रुपद-सुता-सी
कौन छिपी हो अलि! अज्ञात,
तुहिन-अश्रुओं से निज गिनती
चौदह दुखद-वर्ष दिन रात?

पछतावे की परछांई-सी
तुम भू पर छाई हो कौन?
दुर्बलता-सी, अँगड़ाई-सा,
अपराधी-सी भय से मौन।

किस रहस्यमय-अभिनय की तुम,
सजनि! यवनिका हो सुकुमार,
इस अभेद्य-पट के भीतर है
किस विचित्रता का संसार?

निर्जनता के मानस-पट पर
—बार बार भर ठण्डी-सांस—
क्या तुम छिप कर क्रूर-काल का
लिखती हो अकरुण इतिहास?

सखि! भिखारिणी-सी तुम पथ पर,
फैला कर अपना अञ्चल,
सूखे-पातों ही को पा क्या
प्रमुदित रहती हो प्रतिपल?

कभी लोभ-सी लम्बी होकर,
कभी तृप्ति-सी हो फिर पीन,
क्या संसृति की अचिर-भूति तुम
सजनि! नापती हो स्थिति-हीन?

दिनकर-कुल में दिव्य जन्म पा,
बढ़ कर नित तरुवर के सङ्ग,
मुरझे-पत्रों की साड़ी से
ढँक कर अपने कोमल अङ्ग;

सदुपदेश-सुमनों से तरु के
गूँथ हृदय का सुरभित-हार,
पर-सेवा-रत रहती हो तुम,
हरती नित पथ-श्रान्ति अपार।

चूर्ण-शिथिलता-सी अँगड़ा कर
होने दो अपने में लीन,
पर-पीड़ा से पीड़ित होना
मुझे सिखा दो, कर मद-हीन।

कवि!

हे राजनीतिविद्, अर्थविज्ञ!
रच शत शत वाद, विवाद, यंत्र,
परतंत्र किया तुमने मानव,
तुम बना न सके उसे स्वतंत्र।
हे दर्शनज्ञ, शत तर्कों से,
सच्छास्त्रों से पा गहन ज्ञान,
तुम भी न दे सके मानव को
उसकी मानवता का प्रमाण।

हे चित्रकार, ले रंग तूलि,
भर रूप रेख, छायाभ अंग,
चित्रित न कर सके मानव में
तुम मानवता के रूप रंग ।
गायक, पा कोमल, मधुर कंठ,
रच वाद्य, ताल, आलाप, तान
मानव उर तुम मानव उर में
लय कर न सके, गा मर्म गान।
हे शिल्पकार वर, कठिन धातु,
जड़ प्रस्तर में भर अमर प्राण
दे सके नहीं मानव जग को
तुम मानवता का प्रकृत मान ।
कवि, नव युग की चुन भाव राशि,
नव छंद, आभरण, रस विधान,
तुम रच न सकोगे जन मन के
जाग्रत भावों के गीत यान ?

आचार्य द्विवेदी जी के प्रति

भारतेंदु कर गए भारती की वीणा निर्माण
किया अमर स्पर्शों ने जिसका बहुविधि स्वर-संधान
निश्चय, उसमें जगा आपने प्रथम स्वर्ण झंकार
अखिल देश की वाणी को दे दिया एक आकार !

पंखहीन थी अहा कल्पना, मूक कंठगत गान!
शब्द शून्य थे भाव; रुद्ध प्राणों से वंचित प्राण!
सुख दुख की प्रिय कथा स्वप्न! वंदी थे हृदयोद्गार,
एक देश था सही, एक था क्या वाणी व्यापार?
वाग्मि! आपने मूक देश को कर फिर से वाचाल,
रूप रंग से पूर्ण कर दिया जीर्ण राष्ट्रकंकाल!
शत कंठों से फूट आप के शतमुख गौरव गान
शत शत युग स्तंभों पर तानें स्वर्णिम कीर्ति वितान!
चिर-स्मारक सा उठ युग युग में भारत का साहित्य
आर्य, आपके यशःकाय को करे सुरक्षित नित्य।

खोलो

रुद्ध हृदय के द्वार,
—खोलो फिर इस बार!

मुक्त निखिल मानवता हो
जीवन सौन्दर्य प्रसार,—
खोलो फिर इस बार!

युग युग के जड़ अंधकार में
वंदी जन-संसार,
रूढ़ि-पाश में बँधी मनुजता
करती पशु-चीत्कार!—
खोलो फिर इस बार!

निर्मम कर आघात मर्म में,
निष्ठुर तड़ित प्रहार
चूर्ण करो गत संस्कारों को,
लेओ प्राण उबार !—
खोलो फिर इस बार !

गूँज उठे जन-जन में जीवन
उर में प्रणय पुकार,
पुनः पल्लवित हो मानव-जग,
हो वसंत, पतझार !—
खोलो फिर इस बार !

———

सियारामशरण गुप्त

आप कविश्रेष्ठ बाबू मैथिलीशरण गुप्त के छोटे भाई हैं। आपका जन्म संवत् १९५२ में हुआ था। आप बङ्गला, गुजराती, मराठी, संस्कृत में बहुत अच्छी गति रखते हैं। कविता के क्षेत्र में आपको खूब सफलता प्राप्त हुई है। आप कथात्मक कविताएँ लिखते हैं, किन्तु कहीं-कहीं आजकल का सा रंग भी आगया है। मुक्त छंद, नये भाव और नई शैली। गम्भीर चिन्तन और सरलता आपकी कविता के दो विशेष गुण हैं। आपके खण्डकाव्यों में करुण रस का बहुत सुन्दर परिपाक हुआ है। उन्हें पढ़ने से हृदय पर गहरी छाप पड़ती है।

कविता के अतिरिक्त कहानी, नाटक और उपन्यास भी आपने लिखे हैं। 'कोटर-कुटीर' और 'मानुषी' आपकी कहानियों के संग्रह हैं, 'गोद' एक सुन्दर उपन्यास है, 'पुष्प-वर्षा' अच्छा नाटक है और 'निष्क्रिय प्रतिरोध' और 'कृष्णकुमारी' अतुकान्त गीतिनाट्य हैं। 'आर्द्रा' 'दूर्वादल' और 'विषाद' आपकी सामयिक विषयों पर लिखी हुई छोटी-छोटी कविताओं के संग्रह हैं और 'मौर्यविजय' 'अनाथ' और 'पाथेय' आख्यानक खण्डकाव्य। 'पाथेय' आपकी सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जाती है।

चोर

कुछ हो आज बनूंगा चोर।
अभी अँधेरा है, प्राची में
नहीं अरुण-आभा की कोर;
हूंगा, हां हां हूंगा चोर।

पुर-वासी हैं निज निज घर में,
तरु-वासी निज निज कोटर में,
नीरवता है पथ-प्रान्तर में,
सुप्ति छा रही चारों ओर;
कुछ हो, आज बनूंगा चोर!

सम्मुख ही तो है धन मेरा,
किसलय-मृदु ऊपर का घेरा;
लोभ हृदय में है बहुतेरा,
कर लूं मैं निज निशि का भोर।
कुछ हो, आज बनूं मैं चोर।

जितना बने सभी मैं ढोलूँ;
हलका हूँ कुछ भारी हो लूँ;
द्वार पर्ण-मय है, अब खोलूँ;
उठी अहा! आमोद हिलोर!
धन्य हुआ बन कर मैं चोर!

लुट कर भी खिल उठी, भली यह;
अच्छी धनवन्ती निकली यह!
कौन अरे—है कुसुमकली वह
और पवन मैं हूँ मुँहजोर;
नहीं नहीं, मैं तो हूँ चोर,
चोर, अहा सचमुच ही चोर!

यात्री

(१)

कैसे पैर बढ़ाऊँ मैं?
इस घन-गहन-विजन के भीतर
मार्ग कहां जो जाऊँ मैं?
कुटिल कँटीले झंखाड़ों में
उत्तरीय उड़ कर मेरा
उलझ उलझ जाता है, इसको
कहां कहां सुलझाऊँ मैं?
कहीं धँसी है धरा गर्त्त में,
कहीं चढ़ी है टीलों पर;

मुक्त विहग-सा उड़ जाऊँ जो
पंख कहाँ से लाऊँ मैं ?

(२)

पंख कहाँ से लाऊँ मैं !
अरे, पैर ही क्या कुछ कम हैं
क्यों न अभी बढ़ जाऊँ मैं ?

उत्तरीय का क्या, यह तनु भी
क्षतच्छिन्न हो जाने दूँ;
इन शत शत कांटों में बिंधकर
लक्ष्य-लाभ निज पाऊँ मैं।
गह्वर-टीले इधर-उधर हैं,
मुझको पथ देने को ही;
अपने इन पद-चिह्नों पर ही
नूतन मार्ग बनाऊँ मैं !
कुछ हो, पैर बढ़ाऊँ मैं।

दुर्वार

"रुक जा, रुक जा बन्धु, आज तू;
आज प्रकृति-गति है प्रतिकूल;
भर भर कर हुंकार कोपना
झंझा उड़ा रही है धूल।"

अहा धूल ने भी गतिधारी
शुष्क पत्र भी हैं नभचारी;
तज विलास-मन्थरता सारी
हुआ मृदुल मारुत वातूल!
सखे, रोक मत मुझे आज तू,
प्रकृति आज मेरे अनुकूल।

"रुक जा, रुक जा बन्धु, आज तू;
आज समय-गति है प्रतिकूल;
रुद्र व्योम घन-जटा खोल निज
लिये हुए है विद्युत्-शूल।"

शूल अहा! यह चमक चमक कर,
पड़ता है मेरे पथ-तम पर।
इतना भी कम क्या, यदि डग भर
बढ़ जाता हूँ मैं भय-भूल?
सखे, रोक मत मुझे आज तू,
समय आज मेरे अनुकूल।

"रुक जा, रुक जा बन्धु, आज तू,
ऋतु है यात्रा के प्रतिकूल;
जल ही जल सब ओर आज है,
डूब गये हैं सब पथ-कूल।"

मेरे मग की खन्दक-खाई,
वर्षा समतल पर है लाई।
अहा! सन्तरण की बन आई,
कण्टक दे न सकेंगे शूल!
सखे, रोक मत मुझे आज तू,
सब कुछ है मेरे अनुकूल।

खिलौना

'मैं तो वही खिलौना लूंगा'
मचल गया दीना का लाल,—
'खेल रहा था जिसको लेकर
राजकुमार उछाल उछाल।'

व्यथित हो उठी मां बेचारी—
था सुवर्ण-निर्मित वह तो!
खेल इसीसे लाल,—नहीं है
राजा के घर भी यह तो!'

'राजा के घर! नहीं नहीं मां,
तू मुझको बहकाती है;
इस मिट्टी से खेलेगा क्या
राजपुत्र तू ही कह तो।'

फेंक दिया मिट्टी में उसने
　　मिट्टी का गुड्डा तत्काल;
'मैं तो वही खिलौना लूँगा'—
　　मचल गया दीना का लाल!

'मैं तो वही खिलौना लूँगा'
　　मचल गया शिशु राजकुमार,—
'वह बालक पुचकार रहा था
　　पथ में जिसको बारंबार।

'वह तो मिट्टी का ही होगा,
खेलो तुम तो सोने से।'
दौड़ पड़े सब दास-दासियाँ
राजपुत्र के रोने से।

'मिट्टी का हो या सोने का,
इनमें वैसा एक नहीं।
खेल रहा था उछल उछल कर
वह तो उसी खिलौने से।'

राजहठी ने फेंक दिये सब
　　अपने रजत - हेम - उपहार;
'लूँगा वही, वही लूँगा मैं!'
　　मचल गया वह राजकुमार।

घट

कुटिल कंकड़ों की कर्कश रज
मल-मल कर सारे तन में,
किस निर्मम निर्दय ने मुझको
बांधा है इस बन्धन में ?

फांसी-सी है पड़ी गले में
नीचे गिरता जाता हूँ;
बार-बार इस अन्ध-कूप में
इधर - उधर टकराता हूँ;

ऊपर-नीचे तम ही तम है
बन्धन है अवलम्ब यहां!
यह भी नहीं समझ में आता
गिर कर मैं जा रहा कहां!!

कांप रहा हूं; भय के मारे
हुआ जा रहा हूँ म्रियमाण;
ऐसे दुखमय जीवन से हा !
किस प्रकार पाऊं मैं त्राण ?

सभी तरह हूँ विवश, करूँ क्या
नहीं दीखता एक उपाय;
यह क्या ?—यह तो अगम नीर है,
डूबा ! अब डूबा, मैं हाय !!

भगवन्! हाय बचालो अब तो,
तुम्हें पुकारूँ मैं जब तक,
हुआ तुरन्त निमग्न नीर में
आर्तनाद करके तब तक।

अरे, कहां वह गई रिक्तता,
भय का भी अब पता नहीं;
गौरववान हुआ हूँ सहसा,
बना रहूँ तो क्यों न यहीं?

पर मैं ऊपर चढ़ा जा रहा
उज्ज्वलतर जीवन लेकर;
तुम से उऋण नहीं हो सकता
यह नवजीवन भी देकर।

परीक्षा

मैं हूं एक, अनेक शत्रु सम्मुख हैं मेरे,
क्रोध, लोभ, मोहादि सदा रहते हैं घेरे।
परमपिता, इस भांति कहां मुझको ला पटका,
जहां प्रतिक्षण बना पराभव का है खटका।
अथवा निर्बल समझ अनुग्रह है दिखलाया,
करने को बल-वृद्धि अखाड़े में पहुँचाया।
सबल बनूं मैं घात और प्रतिघात सहन कर,
ऊपर कुछ चढ़ सकूँ और दुख-भार वहन कर।

इस कठिन परीक्षा-कार्य में
हो जाऊँ उत्तीर्ण जब
कर देना मानस-सद्म में
शान्ति-सुगन्धि विकीर्ण तब।

सुजीवन

हे जीवन-स्वामी तुम हमको
जल-सा उज्ज्वल जीवन दो!
हमें सदा जल के समान ही
स्वच्छ और निर्मल मन दो!

रहें सदा हम क्यों न अतल में,
किन्तु दूसरों के हित पल में
आवें अचल फोड़ कर थल में;
ऐसा शक्ति-पूर्ण तन दो!

स्थान न क्यों नीचे ही पावें,
पर तप में ऊपर चढ़ जावें,
गिर कर भी क्षिति को सरसावें,
ऐसा सत्साहस धन दो!

खादी की चादर

खादी की वह मोटी चादर नहीं चित्त को भाती थी;
अनमिल जन की अपनाहट-सी रुचि से मेल न खाती थी।
वह बेडौल बनावट उसकी स्मृति में फिर फिर आती थी;
छिलका-सा था अड़ा दांत में जीभ वहीं पर जाती थी।

बड़ी देर हो गई लोटते, फिर भी नींद नहीं आई;
सहसा मुझे एक छाया-सी सम्मुख ही दी दिखलाई।
अर्द्ध-निशा थी, विजन कक्ष था, पूरा सन्नाटा छाया;
आंखें मलीं, उसे फिर देखा, ऐं यह है कैसी माया।
अट्टहास-सा हुआ एकदम, कांप उठी रजनी की शान्ति,
सुना—"अरे डरते हो? हूँ मैं, नहीं हुई है तुम को भ्रान्ति।
बदल रहे करवटें देर से, बीत चुकी है आधी रात;
जी में सोचा, घड़ी दो घड़ी बैठ करूँ तुमसे कुछ बात।"
मैंने उत्तर दिया—"कहो कुछ, कटे समय यह किसी प्रकार"
"तो फिर कहूँ आप-बीती ही, हो तुम सुनने को तैयार?
चम्पा का सौभाग्य-सूर्य जब अस्त हो गया, असमय ही,
उसके लिए विशाल विश्व यह बस हो गया तमोमय ही।
हुआ सह-मरण ही उसका, वह बची रही कहने भर को;
जीवित रही कठोर चिता में दहते ही रहने भर को।
सब के लिए अशुभ-सी दुस्सह विधि का शाप हुई घर में,
मरणेच्छा ही हुई शुभेच्छा उसके लिए भुवन भर में।
रात रात भर रोती रहती, तनिक विराम न लेती थी;
तमसा के उपरान्त उषा भी उसे प्रकाश न देती थी।
घर के लोग कोसते जब तब उसे राक्षसी कह कह कर;
उसकी वह छोटी बच्ची भी खलती सबको रह रह कर।
उसकी मां से उसे तनिक भी हीन नहीं वे बतलाते;
अपना बाप खा गई, तब तो उसे और मोटी पाते!

तीर्थाटन के लिए ले गये घर के लोग उसे उस बार;
दया दिखाई,—उस दुखिया का कुछ तो हो परलोक-सुधार!
पर काशी में बड़ी भीड़ थी, साथ अचानक छूट गया;
अबला की आशा का अन्तिम सूक्ष्म-तन्तु भी टूट गया!
दिन भर बच्ची लिये गोद में घूमा की वह जहां तहां;
किन्तु हाय! घर के लोगों का पता नहीं पा सकी वहां।
पैसे थे कुछ पास, उन्हीं से बच्ची को कुछ खिला दिया;
उतर घाट से गंगाजी का पावन जल ही आप पिया।

सन्ध्या हुई, उदय तारों का हुआ नभस्थल में क्रम से;
गंगा-तीर, नगर, प्रान्तर सब हुए समाच्छादित तम से।
तट पर एक वृक्ष के नीचे बैठ गई विधि की मारी;
थी सो गई गोद में बच्ची, रोती रोती बेचारी।
दूर अदृश्य किसी नौका में नाच हो रहा था लय-सह;
नूपुर-नाद, ठनक ठेके की, 'वाह, वाह!' का रव रह रह।
किसी उच्च देवालय पर से गूँज रही थी शहनाई;
आसपास सुरसरि-धारा की कल कल कल ध्वनि थी छाई।
यहां अकेली हूँ बस मैं ही—हुआ उसे अनुभव प्रत्यक्ष;
उसके लिए विजन वन ही था बहु-जन-संख्यक नगर समक्ष।
चुरा चुका था जो अपना मुँह, नैश-तिमिर का परदा डाल,
हूक उठी उसके भीतर से, वेग न वह, सह सकी सँभाल।
पटक दिया अपना सिर नीचे, हृदय खोल कर वह रोई;
"मुझ अभागिनी का सहाय क्या कहीं नहीं होगा कोई!

वैरी हुआ विश्व भर मेरा, हाय ! कहां अब जाऊँ मैं ?
मुझ तक ही मेरी सीमा है, हाथ कहां फैलाऊँ मैं ?
छूटा गांव, गेह भी छूटा, माता-पिता सभी छूटे;
छूटे नहीं प्राण ही मेरे, जग के सब नाते टूटे।
आ जा, अरी मौत ! आ जा तू , ऐसी चाह किसे तेरी ?
आकर अरी बचा जा मुझको सौत हुई तू क्यों मेरी ?
किस अभाग्य से तू ओ बेटी, हुई हाय ! मेरी बेटी !
नहीं कहीं भी ठौर रहा हा ! यहां रेत पर तू लेटी !
रट-सी रही लगाये दिन भर कह कह 'चल मां,घर को चल'
नहीं जानती है अभागिनी, हुआ यही घर है तरु-तल ।
विश्वनाथ, हा विश्वनाथ ! तुम हो यथार्थ ही पत्थर के !
सम्मुख ही तलफाओगे क्या मुझे निस्सहाया करके !
क्या पिट गया दिवाला, जिस से तूने भी मुँह है फेरा;
अरी अन्नपूर्णा माता, क्या रहा नाम भर ही तेरा ?"

बच्ची एकाएक रो उठी इसी समय सोते सोते;
लगा उसे छाती से उसने चूमा स्थिर होते होते।
बिना कहे कह दिया कि—'रो मत, हूँ मैं तो पृथ्वीतल पर'
मातृ-मूर्ति की आभा झलकी उसके मृदु मुख-मण्डल पर।
बहा पवन गंगा-प्रवाह पर गहरी एक सांस भरके,
तट के उस पीपल के पत्ते सिहर उठे मर्मर करके।
ऊपर उलझे हुए तिमिर में झिलमिल होते थे तारे,
ज्यों के त्यों निस्तब्ध खड़े थे उच्च भवन-आलय सारे !

तम की घनी गाढ़ता अब तक वैसी ही थी, घटी न थी,
चहके अभी न थे पत्ती भी, प्राची में पौ फटी न थी।
कौशिक वस्त्र डाल कर कन्धे पर, कहते हुए 'शम्भु हर हर!'
इसी समय प्रतिदिन आते थे पण्डित जी गंगा-तट पर।
चलते-चलते खड़े हो गये, पाकर वृक्ष-तले आहट;
'है यह कौन यहां?'—बोले वे झुक कर कुछ आगे को झट।
सुन कर आत्म-कथा चम्पा की आंखें उनकी हुईं स-जल;
उमड़ उठी बूँदों में गंगा देकर शुचि स्नान का फल!
बोले—'बचा लिया दुष्टों से गङ्गा मां ने करुणा कर;
अब इस तरह न घबरा बेटी, चल कर रह तू मेरे घर।
वस्त्र पास में न था और, पर चम्पा ने भी स्नान किया;
क्या था वहां, नेत्र-जल की ही दो बूँदों का दान दिया।
चलते समय अश्रु-धारा से भींगा वस्त्र भिगोकर फिर,
वह अभागिनी आर्द्रा अबला; बोली यों करके नत शिर—
'गंगा मैया, इसी लिए क्या मुझे दूर से था खींचा?
क्यों उखाड़ देने ही को हा! आशा-लतिका को सींचा?
तू समर्थ, जो करे ठीक है रोक सकेगा कौन तुझे;
यहीं घाट पर हाय! विप्र का दिलवाना था दान मुझे?"

धर्म-निरत पण्डितजी के घर चम्पा ने आश्रय पाया;
पर दुरन्त दुर्भाग्य वहां भी उसके साथ-साथ आया।
बच्ची का तन तप्त देख कर अन्तरतर उसका दहला,
घबरा उठी, अधीर हो उठी, यदपि प्रहार न था पहला।

रात हुई, बढ़ गई अत्यधिक बच्ची के ज्वर की ज्वाला;
उस ज्वाला में न था ज्योति-कण,बस! तम ही तम था काला।
चम्पा मुँह के पास ले गई दूध कटोरी में भर के;
'मारो मत !' कह चौंक पड़ी वह दूध गिराकर ठोकर से।
तन का ताप जलाकर तन को होने लगा शान्त प्रति पल;
आवश्यकता जान पड़ी जब तब वह हाय ! हुआ शीतल।
रात्रि शेष कुछ थी, बच्ची ने छोड़ी जब निज अन्तिम साँस;
गिरी धड़ाम भूमि पर चम्पा, चुभी हृदय में गहरी गाँस।
पण्डितजी को खेद हुआ—हा! व्यर्थ कलङ्क लिया सिरपर;
करने लगे आर्द्र उनको भी अश्रु दृगों से झिर-झिर कर।
दे देकर आश्वास उन्होंने करना चाहा शान्त उसे;
करने लगा शोक तर तर ही पर नितान्त उद्भ्रान्त उसे।
चिल्ला उठी—'अरी ओ बेटी, मुझको छोड़ चली तू भी!
पहले ही सब तोड़ चुके थे नाता तोड़ चली तू भी।
क्यों न जनमते ही री ! मैंने तेरा गला घोंट डाला;
तुझ जैसे भी महाशत्रु को दूध पिलाकर क्यों पाला ?"
शव को लोग उठाने आये तब वह चिपट गई उससे;
नहीं छोड़ना चाहा उसको, कस कर लिपट गई उससे।
छीन ले गये मृत को जब वे, दौड़ी वह गंगा की ओर,
बड़ी कठिनता से सँभाल कर पकड़ा उसे लगा के ज़ोर।
'अच्छा, मुझे मार ही डालो, नहीं यहां से जाऊँगी,
अरे ! छोड़ दो, पाऊँगी तो, यहीं शान्ति चिर पाऊँगी।

बड़ा खेल होगा आहा हा ! जब तुम मुझे भगाओगे,
नहीं टलूँगी मैं तिल भर भी, सब मिल कर पछताओगे।'

समय जा रहा था वैसा ही, नहीं रुक सका वह पल भर,
बढ़ता गया प्रभाकर नभ में अपनी वही चाल चल कर।
थी वैसी ही भीड़ पथों पर, था वैसा ही यातायात,
कार-बार चल रहे सभी थे, मानों हुई न हो कुछ बात।

पण्डितजी ने कहा बहुत कुछ उसने जल भी नहीं छुआ,
आश्वासन, उपदेश, सांत्वना, डांट-डपट सब व्यर्थ हुआ।
संध्या के सुवर्ण मेघों में जाकर अस्त हुआ दिनकर,
सब अशान्त कोलाहल जग का होने लगा शान्त तर तर।
भग्न-हृदय की करुण हूक ही उस सन्नाटे में भर के,
फैल गई पृथ्वी से नभ तक और सभी का लय करके।
'बेटी, अच्छा किया, गई तू, तू तो कष्टों से छूटी!
अच्छा हुआ, काल ने मेरी बची-खुची निधि भी लूटी।
बस अब ठीक हुआ, डर मुझको किसी चोट का नहीं रहा।
दीपक बुझ ही गया, काम अब किसी ओट का नहीं रहा,
किन्तु अरी निष्ठुरे, तनिक तो दूध यहाँ पीती जाती;
तू भूखी ही गई हाय रे! जलती है मेरी छाती।
अथवा यहां, क्षेत्र में, द्विज का दान ग्रहण करती कैसे?
औरों का भिक्षा-धन लेकर शान्ति-सहित मरती कैसे?
कौन लोक में पहुँच चुकी तू, पता नहीं हा ! गई कहाँ;
तो फिर क्यों फिर-फिर आ आकर भूल दृगों में रही यहां?

मुरझा गया भूख से मुख है; कौन खिलावेगा तुझको ?
बता, वहाँ है कौन हाय! जो दूध पिलावेगा तुझको।
अरे कहीं कोई है ऐसा,—हो उसका सौभाग्य अचल,
तुझ तक पहुँचा सके आज जो एक घूंट पय ही केवल।
बिना मजूरी टहल करूँगी जीवन भर उसके घर मैं,
कर दूंगी उस एक घूँट पर सब कुछ आज निछावर मैं।'
इस प्रकार ही धीरे-धीरे रात बहुत कुछ बीत गई;
सहसा चौंक पड़ी वह मानों—मिली उसे कुछ वस्तु नई।
कोने में पूनी रक्खी थीं टिके हुए चरखे के पास;
उठा उन्हें हलके हाथों से ठोका, लेकर गहरी श्वास।
थोड़ी देर बाद ही, क्रम से चरखा चलने लगा वहां,
पण्डितजी तो जगते ही थे, उठ बैठे—क्या हुआ कहां!
देखा—आगे चरखा रख कर चम्पा कात रही है सूत,
धो-सा दिया करुण-करुणा ने आनन उसका पावन-पूत।
क्या सो गये ? नहीं सुनते हो ? उसी सूत से ही बन कर,
चादर मैं, तैयार हुई हूँ, घूम-घाम कितने ही घर।
हां, तो शेष-कथा भी कह दूं, मुझे और जो कुछ है ज्ञात,
सूत कातती रही वहां वह जम कर बैठ गई दिन-रात।
देख उसे कहते सब कोई—मति है बिगड़ गई इसकी,
चाहा गया, किन्तु, आसन से नहीं ज़रा भी वह खिसकी।
भोजन वहीं पड़ा रह जाता, नहीं ध्यान भी वह देती,
उठती जब तो बस थोड़ा-सा गंगा-जल ही पी लेती।

ओ तपस्विनी, क्या विचार कर लिया घोर ऐसा व्रत है ?
नहीं लौट कर आ सकती वह जो मृत हुआ, हुआ मृत है।

उस दिन सूत इकट्ठा करके रक्खा उसने अपने पास,
फैल गया अतिरिक्त दीप्तिमय आंखों में उत्कट उल्लास।
वह सब पटक दिया ले जाकर पण्डितजी के आगे झट;
'दो आने पैसे दो !' कह कर अट्टहास कर उठी विकट।
देना अधिक उन्होंने चाहा—'अधिक मूल्य का होगा यह'
ज्यादा पैसे वहीं फेंक कर झट-से दौड़ गई पर वह।

तनिक दूर ही, चौराहे पर दूध-दही की थी दूकान,
रुकी वहीं उसके आगे वह झंझा की-सी द्रुत गतिमान।
'दूध हमें दो, दो आने का' कह कर फेंक दिये पैसे,
उत्तर मिला—'तीन आने में भरूँ सकोरे दो ऐसे ?'
बोली वह—'मुझको जल्दी है, एक सकोरा ही भर दो'
लेकर दूध तुरन्त बढ़ गई पैसे छोड़ वहीं पर दो!

खबर नहीं थी उसे तनिक भी, होता है क्या कहां किधर,
बिना रुके ही सीध बांध वह पहुँची गंगा के तट पर।
छिपा हुआ था अपर पार के झुरमुट में अस्तंगत रवि,
कुछ किरणें ही पत्र-पथों से छींट रही थीं स्वर्णच्छवि।
उतर सीढ़ियों से नीचे को, आस-पास उसने ताका,
सन्नाटा था वहां घाट पर संध्या की नीरवता का।

इधर-उधर आते जाते थे फैले-फूटे ही कुछ जन,
किया प्रणाम भक्ति-युत उसने सुरसरि को हो विनत-वदन।
'मेरी बेटी मुझे छोड़ मां! लेटी है तेरे तल में,
अब तक वह प्यासी ही है हा! रह कर भी अथाह जल में!
यह थोड़ा-सा दूध उसी तक पहुँचा दे, इतना ही कर!
नहीं और कुछ मांगूँगी मैं, दे बस! यह इतना ही वर।
उसकी बची हड्डियों तक ही तू पहुँचा देगी यदि यह;
तृप्ति तनिक तो पा ही लेगी मेरी नन्ही बच्ची वह!'
फिर उसने वह पय प्रवाह में धीरे-धीरे बहा दिया,
हाथ उठा लहरों ने उसको झट अपने में मिला लिया।
ऊपर उठ कर ताक रही थी समुदित नव शशि की लेखा;
चम्पा कहां गई फिर तब से, नहीं किसी जन ने देखा।"

* * *

जाग पड़ा मैं उषःकाल के विहग वरों के सुस्वर से,
वह 'बेडौल बुनी' चादर ही ओढ़े था मैं ऊपर से।
चम्पा के करुणार्द्र स्वरों में 'हो सौभाग्य अचल' कह कह,
मारुत उसमें उठा रहा था गंगा की लहरें रह रह।

बालकृष्ण शर्मा नवीन

नवीन जी का जन्म सं० १४५४ में शाजापुर ग्वालियर राज्य में हुआ था। इनके पिता पं० जमनादास जी एक कट्टर वैष्णव थे। उज्जैन के माधव कालेज से एंट्रेन्स पास कर ये श्रीयुत गणेशशंकर विद्यार्थी के संपर्क में आ गये, और वहाँ कानपुर के एक कालेज में शिक्षा प्राप्त करने लगे। अभी बी. ए. के फाइनल में ही पढ़ते थे, कि असहयोग का आन्दोलन छिड़ गया और ये कालिज छोड़ कर उस आन्दोलन में भाग लेने लगे। पहले साप्ताहिक 'प्रताप' के सम्पादकीय विभाग में काम करते रहे, फिर कई वर्ष तक 'प्रभा' का सम्पादन कार्य किया। इन दिनों ये दैनिक 'प्रताप' के प्रमुख

सम्पादक हैं। इनके राजनीतिक लेखों में ज़ोर होता है। विचार बहुत ऊँचे होते हैं। स्वभाव बहुत विनम्र है। गद्य, पद्य दोनों सुन्दर लिखते हैं।

कविता में इनका आसन 'पन्त', 'प्रसाद' और 'निराला' के साथ है। कविता राष्ट्रीय भावों से पूर्ण है। कुछ शृंगार और करुणा के चित्र भी खींचे हैं, जो बहुत सुन्दर बन पड़े हैं। उनमें ऊँचे भाव हैं और ऊँची कल्पना भी। इन दोनों में सुन्दर प्रवाह लक्षित होता है। भाषा सरल और अत्यन्त सुन्दर है। 'विस्मृता-उर्मिला' नामक एक सुन्दर काव्य भी लिखा है, जो शायद अभी तक छपा नहीं। कविताओं का एक संग्रह 'कुंकुम' नाम से छप चुका है।

"—सिरजन की ललकारें मेरी !"

(१)

मेरे हिय-मन्थन से निकला
यह रस रुचिर पुरातन चिर नव;
आज नए अधिकरणों में मैं
जग को देता हूँ यह आसव;

कहता हूँ जब तक न बनेगा
यह नर नारायण का प्रतिनिधि,
तब तक व्यर्थ सिद्ध होगी यह
जगन्मोक्षकारी सब गति-विधि;

कितने वरदानों को हमने
भ्रष्ट किया, क्या कभी विचारा?
कितनी विधियां हम ले डूबे?
साक्षी है इतिहास हमारा।

(२)

जब तक वैयक्तिक-सामाजिक
आचरणों में भेद रहेगा,—
जब तक व्यष्टि-समष्टि धर्म का
स्रोत अलग से यहां बहेगा,—

अरे सत्य-शान्ति की सरणि जब
तक न विश्व-व्यापिनी बनेगी,—
जब तक न यह नदी छोटी, जग-
प्लावक मन्दाकिनी बनेगी,—

जब तक बुद्धि और नैतिक बल
गलबहियां डाले न चलेंगे,—
तब तक ईति-भीति के दानव
मानवता को सतत खलेंगे ।

(३)

संस्कृति की पूर्णता कहाँ है ?
क्या है चरम सभ्यता नर की ?
भौतिक सम्पन्नता मात्र ही
शोभा नहीं मनुज के घर की;

मनोविकार - दमन ही केवल
माप-दण्ड है चिर-संस्कृति का;
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, भय
शाश्वत रिपुदल है संसृति का,

जब तक अवश रहेंगे ये रिपु
तब तक कहां नवल युग जग में ?
बन्धन ही बन्धन उलझेंगे
इस मानवता के पग-पग में ।

(४)

हिंसा और अहिंसा दोनों
प्रकृति-सिद्ध गुण हैं मानव के,
विष, मधु, दोनों ही निकले हैं
मन्थन-सार हृदय-अर्णव के;

एक राक्षसी क्रीड़ा है तो
दूजा है देवत्व दिवाकर;
एक निम्न गति प्रेरक है तो
बना अन्य सोपान ऊर्ध्वचर;

हमें खींचना है मानव को
ज़ोर लगा नीचे से ऊपर,
क्योंकि ऊर्ध्वगति में ही पाता
यह नर निज स्वरूप चिर-सुन्दर।

(५)

हिंसा में विचार - मन्थन का
समय नहीं, अभ्यास नहीं है;
हिंसा में सान्तता भरी है,
वां, अनन्त अवकाश नहीं है;

विना सदाशय-मय प्रणोदना
के न समुन्नत होगा मानव,
कैसे हिंसा से हो सकता
पराभूत जन-हिय का दानव ?

हिंसा से वह और भड़क कर
प्रतिहिंसक बन तन जाएगा;
विना शान्ति के कैसे उसका
हिय - परिवर्तन आ पाएगा ?

विप्लव-गायन

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिससे उथल पुथल मच जाए॥

एक हिलोर इधर से आए—एक हिलोर उधर से आए,
प्राणों के लाले पड़ जाएँ, त्राहि त्राहि-रव नभ में छाए,
नाश और सत्यानाशों का, धुआंधार जग में छा जाए,
बरसे आग, जलद जल जाएँ, भस्मसात भूधर हो जाएँ,
पाप पुण्य, सदसद्भावों की,—धूल उड़ उठे दाएँ बाएँ,
नभ का वक्षस्थल फट जाए, तारे टूक टूक हो जाएँ,
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिससे उथल पुथल मच जाए॥ १॥
माता की छाती का अमृतमय पय कालकूट हो जाए,
आंखों का पानी सूखे,—वे शोणित की घूँटें हो जाएँ,

एक ओर कायरता कांपे, गतानुगति विगलित हो जाए,
अन्धे मूढ़ विचारों की वह—अचल शिला विचलित हो जाए,
और दूसरी ओर कँपा देनेवाला गर्जन उठ धाए,
अन्तरिक्ष में एक उसी नाशक तर्जन की ध्वनि मँडराए,

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिस से उथल पुथल मच जाए ॥ २ ॥

नियम और उपनियमों के ये बन्धन टूक टूक हो जाएँ,
विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जाएँ,
शान्ति-दण्ड टूटे—उस महारुद्र का सिंहासन थर्राए,
उसकी पोषक श्वासोच्छ्वास, विश्व के प्राङ्गण में घहराए।
नाश ! नाश !! हा, महानाश !!! की प्रलयंकरी आंख खुल जाए।

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिससे उथल पुथल मच जाए ॥ ३ ॥

सावधान ! मेरी वीणा में चिनगारियां आन बैठी हैं,
टूटी हैं मिजरावें, युगलांगुलियां ये मेरी ऐंठी हैं,
कण्ठ रुका जाता है, महानाश का गीत रुद्ध होता है,
झाड़ और झंखाड़ व्याप्त हैं—इस ज्वलन्त गायन के स्वर से,

रुद्ध गीत की क्षुब्ध-तान—
निकली है मेरे अन्तर तर से ॥ ४ ॥

कण कण में है व्याप्त वही स्वर रोम-रोम गाता है वह ध्वनि,
वही तान गाती रहती है-काल-कूट फणि की चिन्तामणि,

जीवन ज्योति लुप्त है—आहा हैं प्रसुप्त संरक्षण-घड़ियां,
लटक रही हैं प्रति पल में इस नाशक संभक्षण की लड़ियां॥
चकनाचूर करो जग को—गूँजे ब्रह्माण्ड नाश के स्वर से,
रुद्ध गीत की क्रुद्ध तान-निकली है मेरे अन्तर तर से ! ॥ ५ ॥

दिल को मचल मचल मेंहदी—रचवा आया हूँ मैं, यह देखो-
एक-एक अंगुलि-परिचालन में नाशक-तांडव को पेखो।
विश्व-मूर्ति ! हट जाओ—यह बीभत्स प्रहार सहे न सहेगा,
टुकड़े टुकड़े हो जाओगी, नाशमात्र अवशेष रहेगा।
आज देख आया हूँ—जीवन के सब राज़ समझ आया हूँ,
भ्रू-विलास में महानाश के, पोषक-सूत्र परख आया हूँ।
जीवन-गीत भुला दो—कण्ठ मिला दो मृत्यु गीत के स्वर से,
रुद्ध गीत की क्रुद्ध-तान—निकली है मेरे अन्तर तर से ॥ ६ ॥

शिखर पर

चढ़ चल, चढ़ चल, थक मत, रे बलि-वध के सुन्दर जीव,
उच्च कठोर शिखर के ऊपर है मन्दिर की नीव,
बड़े बड़े ये शिलाखण्ड मग रोके खड़े अचेत,
इन्हें लांघ तू, यदि जाना है तुझे मरण के हेत;

ऊपर अगम शिखर के ऊपर, मचा मृत्यु का रास!
नीचे उपत्यका में है जीवन-पंकिल का त्रास।

चढ़ चल, चढ़ चल, थक मत रे तू बलिदानों के पुञ्ज,
देख कहीं न लुभावे तुझको यह जीवन की कुञ्ज,
मधुर मृत्यु का नृत्य देख तू देने लग जा ताल,
अपना सीस पिरो कर कर दे पूरी मां की माल,

है जीवन अनित्य, कट जाने दे तू मोहक बन्ध,
करदे पूरा आज मरण का तू अपना सुप्रबन्ध।

उदयशंकर भट्ट

भट्टजी का जन्म कर्णवास जिला बुलन्दशहर में १९५५ में हुआ। इनके पिता का नाम श्री फतेशंकर दुर्गाशंकर मेहता था। आपको बचपन से ही कविता लिखने का शौक था। पहले आप प्रयाग से निकलने वाली संस्कृत की मासिक पत्रिका 'शारदा' में कविता और लेख लिखा करते थे। सन् १९१८ से आपने हिन्दी में लिखना प्रारम्भ किया, परन्तु नियमित रूप से आपका साहित्यिक रचनाकाल १९२८ है। आपको हिन्दी, संस्कृत के अतिरिक्त गुजराती और अंगरेजी का भी अच्छा ज्ञान है।

आपकी कविताएँ गहरी दार्शनिकता एवं निराशावाद से पूर्ण होती हैं। भाषा सरल सुन्दर और कलापूर्ण होती है। कहीं कहीं संस्कृत-प्रचुर भाषा के भी दर्शन होते हैं। हिन्दी में वियोगान्त नाटक सर्व प्रथम आपने ही लिखे हैं। आप विद्रोही भावना के लेखक हैं, इसी लिये आपने अपने नए काव्य 'मानसी' में रूढियों, और थोथे अध्यात्मवाद का खंडन किया है। ईश्वर भी छूटने नहीं पाया है।

'तक्षशिला' आपकी इतिवृतात्मक काव्य-रचना है, और अपने ढंग की सबसे पहली। 'विसर्जन' और 'राका' आपकी फुटकर कविताओं के संग्रह हैं। 'मानसी' एक दार्शनिक खण्डकाव्य है। आपके नाटक प्रायः दुःखान्त (Tragedy) होते हैं। उनके कथानक पुराण और इतिहास से लिये गये हैं। पात्रों के सजीव चित्रण में आपको पूर्ण सफलता मिली है। आपके 'विश्वामित्र' और 'मत्स्यगन्धा' को प्रतिष्ठित और गम्भीर समालोचकों ने आदर की दृष्टि से देखा है। ये हिन्दी-साहित्य में बिल्कुल नई वस्तु हैं। 'मत्स्यगन्धा' स्त्री के यौवनकाल की समस्या पर है और विश्वामित्र नर-नारी के संघर्ष पर। 'दाहर' भी एक संघर्षमय ऐतिहासिक नाटक है। प्रचार की दृष्टि में यह नाटक सब नाटकों से लोकप्रिय हुआ है। 'सगर-विजय, 'अम्बा' और 'कमला' इनकी अन्य नाटक-रचनाएं हैं। आपको दो बार अपनी पुस्तकों पर पंजाब-सरकार से पुरस्कार भी मिल चुका है।

अपने से

किसने तुझको बहकाया,
जो राह भूल कर आया।
इन कांटों की दुनियां में,
कह, किसने जी बहलाया?

तू रोता ही उतरा है,
जीवन-प्रभात के रथ से।
क्या रोते जाना होगा,
इस ऊँचे नीचे पथ से?

किसकी उठती आशा के,
यौवन को जग ने देखा?
किसके प्रभात में असफल
खिंच गई न काली रेखा?

यदि सृष्टि पहेली तेरी,
तो तू भी एक पहेली।
तू उससे खेल रहा है,
यह माया तुझ से खेली!

जागृति की आंखों में है,
जीवन का झीना सपना;
है कौन न वहां पराया,
जीवन न जहां हो अपना?

दुख देख न हिलकी भरना,
सुख में न भूलना राही।
क्या कांटे नहीं उगे हैं,
फूलों के संग सदा ही।

पतझड़ ही अन्त यहां है,
तेरे वसन्त का राही।
हँसना ही तो रोना है,
खिलना मुरझा जाना ही।

महा-प्रस्थान

चला, चला रे! छोड़ चला सब वहां जहां का नाम नहीं,
जहां वसन्त सदा हँसता है पतझड़ का कुछ काम नहीं।

(१)

आंखों वाले, तुम बैठे हो मैं आंखें कर बन्द चला,
अरे, उधर तो रात न होती सदा सुबह है शाम नहीं।

'चलो चलो' ही की पुकार है सुस्ताना आराम नहीं,
विना पैर के चलना होगा करना कहीं मुकाम नहीं।

(२)

सूख गये पतझड़ के आँसू बन कितने ऋतुराज यहां,
सूख गई ओसों के सुख सी कितनी जीवन साध यहां?
मेरा शेष शेष के सुख में मिला मिला बस देर नहीं,
अनतिदूर अवसिति की आँखें घूर घूर कर घेर रहीं।
चला, चला रे! छोड़ चला सब वहां जहां का नाम नहीं,
जहाँ वसन्त सदा हँसता है पतझड़ का कुछ काम नहीं।

(३)

मेरे आँगन में भी कुछ दिन रहा खूब उजियाला था,
मेरे भी अरमान कभी थे मैंने भी दिल पाला था।
मेरे सुख पर ढुलक पड़ा था पागल दुनियां का पानी,
बिजली बन मुसका उठती थी मेरी आशा दीवानी।
चला, चला रे! छोड़ सब वहां जहां का नाम नहीं,
सुना, वसन्त यहीं हँसता है पतझड़ का कुछ काम नहीं।

(४)

यहीं अतीत गुदगुदा मेरी स्मृतियों पर इतराता था,
वर्तमान भी इन चरणों पर अपना हृदय बिछाता था।
घूर रहा था यह भविष्य यों इसका था कुछ ज्ञान नहीं,
हाय, घरोंदे फूट गये सब संग लिया सामान नहीं।

(५)

यहीं पराजय के जमघट में रंगत सदा-बहार छिपी,
यहीं गर्व का सिर नीचा है यहीं विश्व की हार छिपी।
अपना अपना समझ हज़ारों आनेवाले चले गये,
यहीं हज़ारों इस चितवन पर हृदय मसोसे छले गये।
चला, चला रे! छोड़ चला मैं चला जहां का नाम नहीं,
सुना, वसन्त उधर हँसता है पतझड़ का कुछ काम नहीं।

(६)

'अथ' से पूर्व, अनन्तर 'इति' के इस जग ने क्या जाना है?
घर से निकल किया क्रय-विक्रय सांझ पड़े घर आना है।
प्रातः पवन खिलाती आई संध्या सब झड़ जाना है,
आते एक छलावा देखा जाते जग पहिचाना है।
चला, चला रे! छोड़ चला सब वहां जहां का नाम नहीं,
सुना वसन्त उधर हँसता है पतझड़ का कुछ काम नहीं।

(७)

सब रो-रो कर मुझे जलाते यह कैसा संसार अहो,
मन में भरा दुलार बाहरी यह कैसा व्यापार कहो?
बदल गया क्षण भर में सब कुछ अब क्या बाकी प्यार नहीं,
बाहर भीतर सदा एक-सा होता यह संसार नहीं!
चला, चला रे! छोड़ चला सब वहां जहां कुछ काम नहीं,
सुना, वसन्त वहीं रहता है हँसता, दुख का नाम नहीं।

(८)

मुँह देखे की यह दुनियां है मुँह देखे का राग यहां,
लगी सामने जग के आंखें फिर पीछे अनुराग कहां?
प्रेम झूमता जिन आंखों में उनमें उतरी मस्ती है,
प्राण-शून्य बस्ती पर अब तो जग की घड़ियां हँसती हैं।
चला, चला मैं इसी लिये हूँ चला उधर उस ओर हताश,
वहां न बुझने वाली मधु की मिलती पथिकों को है प्यास।

(६)

आने पर हँसते जाने पर रोते हैं मतिमान नहीं,
तुम सब की मंज़िल बाक़ी है यहां निवास स्थान नहीं।
तेरे उदधि-उदार-भाग में नेकी ही तो आई थी,
और मिलेगी बांट बांट यह रखने का सामान नहीं।

(१०)

कहां चला हूँ, कब पहुँचूंगा, यह कहना आसान नहीं,
कौन बता पाया है अब तक मिला एक अनुमान यही।
छोड़ दिया ला यहां किसी ने कोई लेने आया है,
जीवों की क्या बात यहां तो चलती फिरती छाया है।
चला, चला रे! छोड़ चला अब वहां जहां का नाम नहीं,
जहां बसन्त सदा हँसता है पतझड़ का कुछ काम नहीं।

विद्रोही

इस विद्रोही रूढधर्म ने अरि समझा है नर को नर का;
देश देश का हुआ घोर अरि, रक्त रक्त का औ' स्वर स्वर का।

जाति जाति की, कर्म कर्म का, सम्प्रदाय है सम्प्रदाय का;
संस्कृति संस्कृतियों की वैरिन, है उपाय बस पर-अपाय का।

तुम क्या जानो ? कितने जीवन अग्नि-शिखा के पान बने हैं
और लपलपाती जिह्वा से व्यालों के सम्मान बने हैं।
ठुकराते-कराहते कितने इसी धरा के ग्रास बने हैं;
केवल ध्येय-सिद्धि के पीछे जीवन नाश-विलास बने हैं।

अरे आज भी उसी धर्म ने तुम्हें गिरा कर पशु कर डाला;
और स्वार्थ ने मन्थर गति से चल कर मानव को मथ डाला।
एक पृथक्‌ता तुमने नर के अन्तर में फिर आकर भर दी;
एक भेद की भित्ति सुदृढ़-सी लाकर खड़ी कहीं से कर दी।

आज बन्धुता फूट-फूट कर मुँह ढक आंचल में रोती है;
आज शान्ति नर के आंसू से अपना अंग-अंग धोती है।
राजनीति यह नहीं, नाश का यह विराट-सा आवाहन है;
कुटिल नीति यह नहीं, मृत्यु का—महामृत्यु का आवाहन है।

आओ, बढ़ कर आग लगा दें उस समाज में, जिसमें छल है,
जिसमें कपट ईर्ष्या जलती, जहां स्वार्थ का दावानल है।
जहां भृकुटि के संकेतों पर कोटिकोटि के प्राण छूटते;
वैभव खेल खेल में नर को मसल-मसल आनन्द लूटते।

जहां बेगुनाहों की लाशें एक नया पर्वत बन जातीं;
जहां बादलों की छाती से जाकर पीड़ाएँ टकरातीं।

वहां फूट चल एक बार तू विश्ववह्नि ओमहाज्वाल तू!
वहां भभक कर धरा फोड़,नभ तोड़,चण्ड हो महाकाल तू!

मैं विद्रोही मुझे शाप का कोई भी सन्ताप नहीं है;
मेरा तो बस धर्म यही है यही कि मुझ में पाप नहीं है।
आडम्बर भी नहीं, विनय भी नहीं,कपट भी नहीं, कहीं है;
नग्न-नाश से खेल खेल कर तुम्हें सुनाना सही सही है।

विजया-दशमी

आज पराजय के पथ में यह कैसे भूली विजय मिली।
सदियों की ज़ंजीर झनझना याद दिलाती कौन चली?
ज़ंज़ीरें चटचटा उठी हैं अरी झांकते ही तेरे।
मुश्किल से अरमान सो सके अभी रुके आंसू मेरे॥

स्मृतियों से पहले की स्मृतियो! तुम्हें बुलाने कौन गया।
हमें दासता में मरने दो क्यों दुहराती पाठ नया?
तुमने राम-चरण की रज पर विजयावलियां लिख डालीं।
जिनकी हुंकृति पर सब जग की आंखों की बिखरी लाली॥

सुधि है कलियों का झंझा के झोकों पर विजयी होना।
और दुधमुहों के थप्पड़ से सिंहों का सुधबुध खोना।
सुधि है छोटे से रघु द्वारा इन्द्रासन कँप जाने की।
सुधि है क्षात्र-तेज के आगे भूमण्डल थर्राने की॥

सुधि है केवल हाथ उठा कर प्रण करते वसुधा-धर की।
शोणित भर भर पीने वाले रणचण्डी के खप्पर की।
स्मृतियां कुछ कुछ अभी बची हैं विश्व-विजय करने वाली।
अब भी कभी कभी रोती हैं, उन पर आंखें मतवाली॥

कल ही तो उस चन्द्रगुप्त के सम्मुख यूनानी हारे।
कल ही तो अशोक की पद-रज सिर धरते भूपति सारे।
पर कवि, उन्हें याद करने का तुमको है अधिकार नहीं।
भूलो, उन पवित्र चरणों की स्मृति का यह संसार नहीं॥

आज सभी कुछ उलट गया है उलटी हवा ज़माने की।
आज यहां रोने की बारी तरस-तरस मर जाने की।
अब जीवन में पराजयों का जमघट ही तो बाक़ी है।
तब तो मृत्यु, मृत्यु में थी अब जीवन में भी झांकी है॥

रहने दो, मत याद दिलाओ उन घड़ियों की मतवाली।
ज़ंजीरें चटचटा उठेंगी सदियों की काली काली।
आज विजय की याद दिलाना पराजयों पर रोना है।
एक कलंकित पतित जाति का शुभ्र शुभ्रतर होना है॥

मेरा बचपन

मैं गाड़ी से उतरा ही था कोई मुझे गुदगुदा भागा।
मुझे न था मालूम कहां मैं आया और कहां पर जागा।

मुँह में दिये अँगूठा पग का मैं कोने में पड़ा हुआ था।
मैंने देखा एक अनोखा सुघड़ खिलाड़ी खड़ा हुआ था॥

घुटनों के बल मुझे नचा कर तिक् तिक् करता आया बचपन।
आप नाच कर मुझे नचाता एक नया जग लाया बचपन।
आँखमिचौनी खेल रहे थे हम दोनों फिर यह क्या पाया।
उसे पकड़ने आगे दौड़ा पीछे ही वह कहीं बिलाया॥

पीछे मुड़ कर देखा मैंने, देखा बचपन दूर खड़ा था।
मैं पीछे मुड़ सका न वह भी अपनी धुन में वहीं अड़ा था।
टूट गई कच्ची रस्सी सी उससे वहीं मित्रता मेरी।
किसी एक जादूगरनी ने आ जादू की लकड़ी फेरी॥

अब भी आँखें ढूँढ रही हैं रोज़ सुबह अल्हड़पन अपना।
अब भी आँखों में हँसता है उस मीठी दुनियां का सपना।
अरे,इधर ही कहीं छिपी है सुघड़ खिलौनों भरी पिटारी।
ज़रा ढूँढ़ लाऊँ मैं ठहरो, बचपन की वह मधुर खुमारी॥

अरे, कहां मैं भूला अपना सदा सुनहला बाग़ हरा-सा।
कहां भूल आया हूँ अपना वह बचपन संगीत भरा-सा।
अब तो बचपन एक कहानी दादी जहां रोज घुस आती।
जहां रात को परियां आकर उड़नखटोले पर ले जातीं॥

चलो भूल जाओ, वह अब तो कहीं हो गया मीठा सपना।
अब तो सम्मुख रात खड़ी है,अब तो जीवन सदा कलपना।

कौन दौड़ ही सका यहां है पीछे को अपने जीवन में।
और पकड़ ही पाया किसने बीता जग आगे की धुन में ?

सुख की क्षणिकता

दुख-स्वप्न-अनिल से कांप रहे कण आशा के पथ-हीन हुए।
स्मृति-सुख का रोमन्थन करते सब साधन बिगड़े दीन हुए।
दुख के तालों पर थिरक-थिरक जब सुख-मदमाती लहर चली।
वह साथिन लहरों से हँस कर हा ! क्रमशः वहीं गई निगली।

किसने परिणामों में पाया संचित आशा भरा सिंगार।
मैं संसार विहार-स्थल पर निरख रहा यह बारंबार॥

उपालंभ

गीतों में स्वर-भंग, हृदय में भय किसने भर डाला।
भव्य-भक्ति में द्रोह, राग में निर्विषयों की ज्वाला।
वीर-भाव में क्लैव्य, प्रेम में अनबन कैसी आई।
विश्वासों में वञ्चकता ने छल काई फैलाई।
घोल क्षार सागर में किसने उसका मद मथ डाला।
स्वतंत्रता में पारतंत्र्य विष घोला कुत्सित काला।
राजनीति में क्यों उठ उसने क्रांति थपेड़ लगाई ?
निर्मल पुष्करिणी में हे विधि, क्यों पैदा की काई ?

पथिक से

चल तू अपनी राह पथिक, चल,तुझको विजय-पराजय से क्या ?
भँवर उठ रहे हैं सागर में,
मेघ घुमड़ते हैं अम्बर में,
आँधी औ' तूफ़ान डगर में,
तुझको तो केवल चलना है, चलना ही है फिर हो भय क्या ?
चल तू ......

इस दुनियाँ में कहीं न सुख है,
इस दुनियां में कहीं न दुख है,
जीवन एक हवा का रुख है;
होने दे होता है जो कुछ इस होने का हो निर्णय क्या ?
चल तू ......

अरे, थक गया ! फिर बढ़ता चल,
उठ, संघर्षों से अड़ता चल,
जीवन विषम पन्थ चढ़ता चल,
अड़ा हिमालय हो यदि आगे 'चढ़ूँ कि लौटूँ' यह संशय क्या ?
चल तू ......

कोई रो रोकर सब खोता,
कोई खोकर सुख से सोता,
दुनियां में ऐसा ही होता;

जीवन का क्रय मरण यहां पर निश्चित ध्येय यदि फिर 'त्तय' क्या ?

चल तू अपनी राह पथिक, चल......

गीत -

हो गया यह हास मेरा सब कहीं उपहास क्यों ?
मैं तिमिर में ढूँढता हूँ हृदय का उल्लास क्यों ?
मुक्त तारक निचय ऊपर
खोजता क्या उतर भूपर
तू धरा का दीप बन जल, मांगता आकाश क्यों ?
हो गया यह हास... ...
बूँद सा अधिकार मेरा
चमक लघु, पर गुरु अँधेरा
अँधेरे में ले रहा हूँ दामिनी की आश क्यों ?
हो गया यह हास... ...
मैं हृदय की कह न पाया
ओस सा ढल बिखर आया
फेंक पहले दूर कोई फिर बुलाता पास क्यों ?
बन गया यह हास मेरा सब जगह उपहास क्यों ?

भगवतीचरण वर्मा

संयुक्तप्रान्त के उन्नाव ज़िले में शफीपुर एक गाँव है। वहीं सं० १९६० में बाबू भगवतीचरण का जन्म हुआ। इनके पिता कानपुर के प्रसिद्ध वकील थे। इन्होंने भी बी० ए० के बाद वकालत की परीक्षा पास की। परन्तु वकालत में मन नहीं लगा और स्वतंत्र रूप से साहित्य-सेवा करने लगे। आजकल ये कलकत्ते की एक फिल्म कम्पनी में कहानियाँ लिखते हैं। कविता लिखना इन्होंने स्कूल काल में ही आरम्भ किया था। 'प्रताप' के सम्पादक पं० गणेशशंकर विद्यार्थी इन्हें प्रोत्साहन देने वाले थे।

इनकी कविताएं बहुत लोकप्रिय हुई हैं। इन्होंने प्रेम और सौन्दर्य का बहुत सुंदर चित्रण किया है। ये कर्मयोग में ध्रुव विश्वास रखते हैं। आदर्श बहुत ऊँचा है और इसके लिये बहुत सुन्दर भावों की सृष्टि की है। भाषा साफ़ सुथरी है, उसमें मुहावरे का प्रयोग जोरदार है और गठन में स्वाभाविकता है।

'मधुकण' और 'प्रेम-संगीत' इनकी कविताओं के दो संग्रह छप चुके हैं। ये उपन्यास और कहानी भी बहुत सुन्दर लिखते हैं। 'पतन', 'चित्रलेखा' और 'तीन वर्ष' इनके उपन्यास हैं, और 'इन्स्टालमेंट' सुन्दर कहानियों का संग्रह।

परिचय

(१)

यह न समझना देवि ! कि मुझको
निज ममत्व का ज्ञान नहीं,
इस विस्मृति के विषम वक्ष में
रुदन नहीं, मुसकान नहीं;
इस सपनों से भरी नींद में
हलचल नहीं, विराम नहीं,
अरे! अधर के इस प्रदेश में
पतन नहीं, उत्थान नहीं ।

(२)

एक, एक के बाद दूसरी—
तृप्ति प्रलय पर्यन्त नहीं,

अभिलाषा के इस जीवन का
आदि नहीं है, अन्त नहीं!

यहां सफलता असफलता के
बन्धन का अभिशाप नहीं,
यहां निराशा औ' आशा का
पतझड़ नहीं, बसन्त नहीं!

(३)

जो पूरी हो सके कभी भी
मेरी ऐसी चाह नहीं,
यहाँ महत्त्वाकांक्षाओं की
परिधि नहीं है, थाह नहीं,

बचा हुआ हो निखिल विश्व का
ऐसा कोई भाग नहीं,
उद्गारों के प्रबल स्रोत का
रुकता कभी प्रवाह नहीं।

(४)

क्या भविष्य है? नहीं जानता
मुझको ज्ञात अतीत नहीं,
सुख से मुझको प्रीति नहीं है
दुख से मैं भयभीत नहीं,

लड़ता ही रहता हूं प्रतिपल
बाधाओं का पार नहीं,

काल-चक्र के महासमर में
जीत नहीं है, हार नहीं !

(५)

इस मादकता के प्रवाह में
कसक नहीं, उल्लास नहीं ।
मेरी इस उत्तप्त भूमि में
शिशिर नहीं, मधुमास नहीं ।

ठसक नहीं वैभव की मुझको,
निर्धनता का ताप नहीं ।
इस समता के उच्च-भाव में
गर्व नहीं निःश्वास नहीं ।

(६)

जो कि जला सकता हो मुझको
ऐसा कोई ताप नहीं,
दीवानों को लग सकता हो
जग में ऐसा शाप नहीं ।

यहाँ असम्भव अथवा सम्भव
पर मुझको विश्वास नहीं ।
मेरी क्रीड़ा के प्रांगण में
पुराय नहीं है, पाप नहीं !

(७)

इस जीवन के तीखेपन में
विनय नहीं, अभिमान नहीं;
"और, और" को छोड़ यहां पर
और दूसरा ध्यान नहीं !
इस अनन्त का कोई भी क्षण
मेरे लिए अजान नहीं।
यह न समझना देवि ! कि मुझको,
निज ममत्व का ज्ञान नहीं।

मेरी आग

(१)

निज उर की वेदी पर मैंने महायज्ञ का किया विधान,
समिधि बना कर ला रक्खे हैं चुन चुन कर अपने अरमान;
अभिलाषाओं की आहुतियां ले आया हूँ आज महान,
और चढ़ाने को आया हूँ अपनी आशा का बलिदान;
अभिमन्त्रित करता है उसको इन आहों का भैरव-राग।
जल उठ ! जल उठ ! अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग !

(२)

आमन्त्रित हैं यहां कसक से क्रीड़ाएँ करने वाले,
हृदय-रक्त से निज वैभव के प्यालों को भरने वाले;
जीवन की अतृप्त तृष्णा से तड़प तड़प मरने वाले,
अंधकार के महा उदधि में अन्धों से तरने वाले;

फूल चढ़ाने वे आये हैं जिनमें मिलता नहीं पराग।
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग!

(३)

इस उत्सव में आन जुड़े हैं हँस हँस बलि होने वाले,
निज अस्तित्व मिटा कर पल में तन मन धन खोने वाले;
उर के आँसू से इस जग की कालिख को धोने वाले,
हँसने वालों के विषाद पर जी भर कर रोने वाले;
आज आँसुओं का घृत लेकर आया है मेरा अनुराग।
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग!

(४)

यहाँ हृदय वालों का जमघट, पीड़ाओं का मेला है,
अर्घ्यदान है अपनेपन का, यह पूजा की वेला है;
आज विस्मरण के प्रांगण में जीवन की अवहेला है,
जो आया है यहाँ, प्राण पर वह अपने ही खेला है;
फिर न मिलेंगे ये दीवाने, फिर न मिलेगा इनका त्याग।
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग!

(५)

लपटें हों विनाश की जिनमें जलता हो ममत्व का ज्ञान,
अभिशापों के अङ्गारों में भुलस रहा हो विभव विधान;
अरे क्रान्ति की चिनगारी से तड़प उठे वासना महान,
उच्छ्वासों के धूम्र-पुञ्ज से ढक जावे जग का अभिमान;
आज प्रलय की वह्नि जल उठे जिसमें शोला बने विराग।
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग!

रामकुमार वर्मा

रामकुमार वर्मा का जन्म सं० १९६२ में मध्यप्रदेश के सागर ज़िले के एक गाँव में हुआ था। इनके पिता श्रीयुत लक्ष्मीप्रसाद एक ऊँचे सरकारी पद पर प्रतिष्ठित थे। पढ़ने-लिखने में ये खूब पटु थे। स्कूल की प्रत्येक श्रेणी में इनका नम्बर सब से पहला रहता था। कविता का शौक भी इन्हें स्कूल-काल में ही लगा था। इन्होंने एम. ए. में हिन्दी लेकर इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में परीक्षा पास की और फिर इसी विश्वविद्यालय में ही हिन्दी के लेक्चरार के पद पर नियुक्त हो गये और आजकल इस पद को सुशोभित कर रहे हैं।

वर्मा जी कवि होने के साथ ही विद्वान भी उच्च कोटि के हैं। इनका अंग्रेज़ी, संस्कृत और हिन्दी-साहित्य में पूर्ण अधिकार है। रचना इनकी नवीन कोटि की है, किन्तु दूसरे कवियों की भाँति उतनी अस्पष्ट नहीं। भाषा संस्कृतमयी होकर भी सरल और सीधी है। कविता में अनुभूति और भावना प्रधान हैं। ये संसार की प्रत्येक वस्तु असार और क्षणभङ्गुर समझते हैं। इन्होंने कुछ प्रेम के गीत भी गाए हैं किन्तु उनमें भी नैराश्य और वेदना के दर्शन होते हैं। इतना होने पर भी ये सौन्दर्य के उपासक भी ज़रूर हैं, इनका सौन्दर्य का वर्णन भी अनूठा है।

स्कूल-काल से लेकर अब तक की इनकी कविताओं में एक क्रमिक विकास देख पड़ता है और यह विकास का क्रम अभी तक जारी है। 'वीर-हम्मीर' 'कुल-ललना' 'चित्तौड़ की चिता' 'रूप-राशि' 'शुजा' 'नूरजहाँ' तथा 'निशीथ' इनके इतिवृत्तात्मक काव्य हैं। इनमें से पहली तीन रचनाएं प्राथमिक काल की हैं। 'चित्ररेखा' और 'चन्द्रकिरण' इन की रहस्यवादपूर्ण स्फुट कविताओं के संग्रह हैं। 'चित्ररेखा' पर इन्हें दो हज़ार का देव पुरस्कार भी मिल चुका है। 'अञ्जलि' और 'अभिशाप' सुन्दर मुक्तक और गीतिकाव्य हैं। 'जौहर' नाम से इनकी कविताओं का एक संग्रह लाहौर से छपा है।

वर्मा जी ने प्राचीन संत-साहित्य का भी बड़े मनोयोग के साथ अध्ययन किया है। कबीर के सम्बन्ध की समालोचनात्मक रचना 'कबीर का रहस्यवाद' इनकी एक अपूर्व वस्तु है। हिन्दी-साहित्य का समालोचनात्मक इतिहास और 'साहित्य-रचना' भी सुन्दर रचनाएँ हैं।

अस्थिर जीवन

खिले हुए हैं फूल, धूल को ही सकते हैं चूम,
फिर भी इतने इतराते हैं ये यौवन में झूम।
कितने रंगों में करते हैं ये सदैव ही स्नान,
इनके शीघ्र सूख जाने का क्या न इन्हें है ध्यान?

हाय अन्त में रंग नहीं
पर होगी सूखी धूल,
और धूल ही कहलावेंगे
नहीं सुगन्धित फूल।

वैसा ही यह यौवन है कब तक होगा आनन्द,
अरे एक दिन होवेगी चञ्चल चितवन बन्द।
यह समान मुसकान कर रही जिसमें सुधा-निवास,
बना जावेगी दन्तहीन वृद्धा का अट्टहास।

ये घुँघराले केश बनेंगे
मकड़ी के सित जाल,
गाल शुष्क हो जावेंगे
मानो हों सूखे ताल।

अशान्त

नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ,
आज अनश्वर गीत ?
जीवन की इस प्रथम हार में,
कैसे देखूँ जीत ?

उषा अभी सुकुमार; क्षणों में—
होगी वही सतेज,
लता बनेगी ओस-बिन्दु की;
सरल मृत्यु की सेज।

कह सकता है कौन,
देखता हूँ मैं भी चुपचाप।
किसका गायन बने, न
जाने, मेरे प्रति अभिशाप।

क्या है अन्तिम लक्ष्य—
निराशा के पथ का ?—अज्ञात !
दिन को क्यों लपेट देती है
श्याम वस्त्र में रात ?

और, कांच के टुकड़े बिखरा—
कर क्यों पथ के बीच,
भूले हुए पथिक-शशि को दुख—
देता है नभ नीच?

यही निराशामय उलझन है,
क्या माया का जाल?
यहां लता में लिपटा रहता,
छिप कर भीषण व्याल।

हास्य कहां है? उसमें भी है,
रोदन का परिणाम,
प्रेम कहां है? घृणा उसी में,
करती है विश्राम।

दया कहां है? दूषित उसको—
करता रहता रोष,
पुण्य कहां है? उसमें भी तो—
छिपा हुआ है दोष।

धूल हाय! बनने ही को,
खिलता है फूल अनूप।
वह विकास है मुरझा
जाने ही का पहिला रूप।

मेरे दुख में प्रकृति न देती
क्षण भर मेरा साथ,
उठा शून्य में रह जाता है,
मेरा भिक्षुक - हाथ।

मेरे निकट शिलाएँ, पाकर
मेरा श्वास - प्रवाह,
बड़ी देर तक गुञ्जित करती—
रहतीं मेरी आह।

"मर-मर" शब्दों में हँस कर,
पत्ते हो जाते मौन,
भूल रहा हूँ स्वयं,
इस समय मैं हूँ जग में कौन?

वह सरिता है—चली जा रही—
है चंचल अविराम,
थकी हुई लहरों को देते,
दोनों तट विश्राम,

मैं भी तो चलता रहता हूँ
निशिदिन आठों याम,
नहीं सुना मेरे भावों ने,
'शांति-शांति' का नाम।

लहरों को अपने अंगों में,
तट कर लेता लीन।
लीन करेगा कौन ? अरे,
यह मेरा हृदय मलीन !!

चंद्र-किरण

यह चंद्र-किरण भू-पर आई।
साहस तो देखो, नभ-वासिनि
पृथ्वी पर यह नव छवि लाई।

एकाकीपन का लिए भार
तम के प्रदेश को किया पार,
प्रतिक्षण विस्तृत हो रेख-रूप,
कर दिया विमल तन तार-तार।
मेरे दृग में खोकर उसने
बोलो, क्या जीवन-निधि पाई ? यह···

तज नक्षत्रों से पूर्ण लोक,
आलोक छोड़ निज ज्योति रोक,
मेरी पृथ्वी, जो है मलीन,
जिसमें है पीड़ा, रुदन, शोक,
उसमें आने के हेतु न-जाने
क्यों इतनी यह ललचाई ? यह···

दीपक से

तुम्हें बुझाने का साहस क्यों करे अरे, सांसों की धारा;
तुम दीपक हो, जलना ही तो जग में है अस्तित्व तुम्हारा।
यह तो है संसार, यहाँ पर जल-जल कर ही मर जाना है;
स-तम बना अपना भविष्य, जग को प्रकाशमय कर जाना है।

आओ, हम दोनों जल कर
छोटा-सा क्षण आलोकित कर दें;
अपनी पीड़ा के प्रकाश से
जग को क्रीड़ा का अवसर दें।

तारों के प्रति

सजीले नभ के राजकुमार
सूक्ष्म रश्मियों की बूंदों का यह शैशव आकार
नभ के विस्तृत जीवन में आशाओं का अवतार
उतरो मत फूलों में ले ओस बिंदु का रूप
दो दिन के जीवन में करलूँ तुमसे अपना प्यार
सजीले नभ के राजकुमार

कुहू निशा में अंधकार सागर का आया ज्वार
खद्योतों में उड़ती थी जब नव किरणें साकार
मेरी बुझती आंखों में जब था आंसू का भार
उन्हीं आंसुओं से आए थे ले अपना आकार
सजीले नभ के राजकुमार

महादेवी वर्मा

बाबू गोविन्दप्रसाद वर्मा एम. ए. एल एल. बी. फरुखाबाद के एक ख्यातनामा वकील हैं। महादेवी वर्मा उन्हीं की वरपुत्री हैं। इनका जन्म सं० १९६४ में हुआ। सं० १९८१ में इन्होंने इंट्रेंस पास किया और उसमें ये सारे संयुक्तप्रान्त में प्रथम आईं। सं० १९८५ में संस्कृत और फिलास्फी के वैकल्पिक विषयों के साथ बी. ए. किया और इसके दो वर्ष बाद संस्कृत लेकर एम० ए० किया। तुकबन्दी ये बचपन से ही किया करती थीं। शिक्षा के विकास के साथ साथ इनकी तुकबन्दी को भी विकास प्राप्त हुआ और वह सुन्दर कविता में परिणत होगई। आजकल छायावाद के प्रसिद्ध कवियों में इनकी गणना होती है।

ये चित्रकला और संगीत से भी प्रेम रखती है और इनके गीत बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं।

इनकी कविता में स्त्रीस्वभाव-सुलभ कोमलता और मधुर संगीत है। इन के नैराश्य, व्यथा और पीड़ा के भावों को पढ़ कर समवेदना पैदा हो उठती है। इन भावों की उपासना में ये दूसरी 'मीरा' जान पड़ती हैं। किन्तु अबकी जो इनकी नई कविताएं प्रकाशित हुई हैं उनमें ये कुछ शान्त और सन्तुष्ट नज़र आती हैं, इनका रूप कुछ गम्भीर हो गया है।

इनकी 'नीहार' और 'रश्मि' नाम के संग्रहों में दुःखान्त कविताएं संगृहीत हैं। 'नीरजा' और 'सान्ध्यगीत' में आत्मानुभूति और सन्तोष झलकता है। 'नीरजा' पर इन्हें साहित्य सम्मेलन की ओर से ५०० रुपये का पुरस्कार भी मिल चुका है।

आजकल ये प्रयाग विद्यापीठ की प्रिन्सिपल हैं और पिछले कई वर्षों से 'चाँद' का सम्पादन भी करती हैं।

संसार

निश्वासों की नोड़, निशा का
बन जाता जब शयनागार,
लुट जाते अभिराम छिन्न
मुक्तावलियों के बन्दनवार,

तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार,
आंसू से लिख लिख जाता है 'कितना अस्थिर है संसार'!

हँस देता जब प्रात, सुनहरे
अञ्चल में बिखरा रोली,
लहरों की बिछलन पर जब
मचलीं पड़तीं किरणें भोली,

तब कलियें चुपचाप उठाकर पल्लव के घूँघट सुकुमार,
छलकी पलकों से कहती हैं 'कितना मादक है संसार!'

देकर सौरभ दान पवन से
कहते जब मुरझाये फूल,
'जिसके पथ में बिछे वही
क्यों भरता इन आँखों में धूल ?'

'अब इनमें क्या सार' मधुर जब गाती भौंरों की गुञ्जार,
मर्मर का रोदन कहता है 'कितना निष्ठुर है संसार !'

स्वर्ण वर्ण से दिन लिख जाता
जब अपने जीवन की हार,
गोधूली, नभ के आँगन में
देती अगणित दीपक वार,

हँस कर तब उस पार तिमिर का कहता बढ़ बढ़ पारावार,
'बीते युग, पर बना हुआ है अब तक मतवाला संसार !'

स्वप्नलोक के फूलों से कर
अपने जीवन का निर्माण,
'अमर हमारा राज्य' सोचते
हैं जब मेरे पागल प्राण,

आकर तब अज्ञात देश से जाने किसकी मृदु झङ्कार,
गा जाती है करुण स्वरों में 'कितना पागल है संसार !'

मुरझाया फूल

था कली के रूप शैशव—
में अहो सूखे सुमन !

हास्य करता था, खिलाती
अंक में तुझको पवन।

खिल गया जब पूर्ण तू—
मञ्जुल सुकोमल पुष्पवर!
लुब्ध मधु के हेतु मँडराते
लगे आने भ्रमर।

स्निग्ध किरणें चन्द्र की—
तुझको हँसाती थीं सदा,
रात तुझ पर वारती थी
मोतियों की सम्पदा।

लोरियां गाकर मधुप
निद्रा विवश करते तुझे,
यत्न माली का रहा—
आनन्द से भरता तुझे।

कर रहा अठखेलियां—
इतरा सदा उद्यान में,
अन्त का यह दृश्य आया—
था कभी क्या ध्यान में?

सो रहा अब तू धरा पर—
शुष्क बिखराया हुआ,
गन्ध कोमलता नहीं
मुख मंजु मुरझाया हुआ।

आज तुझको देखकर
चाहक भ्रमर धाता नहीं,
लाल अपना राग तुझ पर
प्रात बरसाता नहीं ।

जिस पवन ने अङ्क में—
ले प्यार था तुझको किया,
तीव्र झोंके से सुला—
उसने तुझे भूपर दिया ।

कर दिया मधु और सौरभ
दान सारा एक दिन,
किन्तु रोता कौन है
तेरे लिये दानी सुमन ?

मत व्यथित हो फूल ! किसको
सुख दिया संसार ने ?
स्वार्थमय सबको बनाया—
है यहाँ करतार ने।

विश्व में हे फूल ! तू—
सब के हृदय भाता रहा !
दान कर सर्वस्व फिर भी—
हाय हर्षाता रहा।

जब न तेरी ही दशा पर
दुख हुआ संसार को,
कौन रोयेगा सुमन!
हम से मनुज निःसार को?

अधिकार

वे मुस्काते फूल, नहीं—
जिनको आता है मुरझाना,
वे तारों के दीप, नहीं—
जिनको भाता है बुझ जाना

वे नीलम के मेघ, नहीं—
जिनको है घुल जाने की चाह,
वह अनन्त ऋतुराज, नहीं—
जिसने देखी जाने की राह।

वे सूने से नयन, नहीं—
जिनमें बनते आँसू-मोती,
वह प्राणों की सेज, नहीं
जिसमें बेसुध पीड़ा सोती;

ऐसा तेरा लोक, वेदना
नहीं, नहीं जिसमें अवसाद,
जलना जाना नहीं, नहीं—
जिसने जाना मिटने का स्वाद!

क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार?
रहने दो हे देव! अरे
यह मेरा मिटने का अधिकार!

"दीपक में पतङ्ग जलता क्यों ?"

दीपक में पतङ्ग जलता क्यों?
प्रिय की आभा में जीता फिर
दूरी का अभिनय करता क्यों?
पागल रे पतङ्ग जलता क्यों?

उजियाला जिसका दीपक में,
तुझमें भी है वह चिनगारी;
अभी ज्वाला देख, अन्य की
ज्वाला पर इतनी ममता क्यों?

गिरता कब दीपक, दीपक में,
तारक में तारक कब घुलता;
तेरा ही उन्माद शिखा में
जलता है फिर आकुलता क्यों?

पाता जड़ जीवन, जीवन से,
तम दिन में मिल दिन हो जाता;
पर जीवन के, आभा के कण,
एक सदा, भ्रम में फिरता क्यों?

जो तू जलने को पागल हो,
आँसू का जल स्नेह बनेगा,
धूमहीन निस्पन्द जगत में
जल बुझ, यह क्रन्दन करता क्यों ?
दीपक में पतङ्ग जलता क्यों ?

जीवन दीप

किन उपकरणों का दीपक,
किसका जलता है तेल ?
किसकी वर्ति, कौन करता
इसका ज्वाला से मेल ?

* * *

शून्यकाल के पुलिनों पर—
आकर चुपके से मौन,
इसे बहा जाता लहरों में
वह रहस्यमय कौन ?

* * *

कुहरे-सा धुँधला भविष्य है,
है अतीव तम घोर
कौन बता देगा, जाता यह,
किस असीम की ओर ?

* * *

पावस की निशि में जुगनू-सा—
ज्यों आलोक प्रसार,
इस आभा में लगता तम का
और गहन विस्तार।

* * *

इन उत्ताल तरङ्गों पर सह—
झंझा के आघात,
जलना ही रहस्य है, बुझना—
है नैसर्गिक बात।

जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द

मिलिन्दजी का. जन्म ग्वालियर रियासत के मुरार नामक गाँव में सं० १९६४ में हुआ। इनकी शिक्षा-दीक्षा प्रायः राष्ट्रीय विद्यालयों में ही हुई। काशी विद्यापीठ के ये स्नातक हैं। भारत की कई भाषाओं में इन की गति है। साल भर ये शान्ति निकेतन में अध्यापन कार्य कर चुके हैं। यों तो ये १४ वर्ष की आयु से ही कविता करने लगे थे किन्तु शान्ति निकेतन का वातावरण पाकर इनकी कविता सचमुच की कविता हो गई, उसमें कविता-उपयोगी पूर्ण विकास आ गया।

मिलिन्दजी प्राकृतिक सौन्दर्य के उपासक हैं। उनका प्रकृतिनिरीक्षण ऊंचा है, कल्पना उर्वरा है, उसका वल पाकर प्रेम और करुणा के चित्रों में जान आ गई हैं। कुल मिला कर इनकी कविता आध्यात्मिक कोटि की है, जिसका सम्बन्ध हृदय के साथ होता है। उसमें उन्माद भरा हैं और मीठा उन्माद।

'पंखुरियां और 'जीवन-संगीत' इनकी कविताओं के उत्तम संग्रह हैं और 'प्रतापप्रतिज्ञा' सुन्दर नाटक।

उगता राष्ट्र

(१)

मेरे किशोर, मेरे कुमार !

अग्नि-स्फुलिंग, विद्युत् के कण, तुम तेजपुंज, तुम निर्विषाद,
तुम ज्वालागिरि के प्रखर स्रोत, तुम चकाचौंध, तुम वज्रनाद;
तुम मदन-दहन दुर्धर्ष रुद्र के वह्निमान दृग् के प्रसाद,
तुम तप-त्रिशूल की तीक्ष्ण धार !
मेरे किशोर, मेरे कुमार !

(२)

तुम नव जागृत उत्साह, तीव्र उत्कंठा, उत्सुक अथक प्राण,
तुम जिज्ञासा उद्दाम, विश्व-व्यापक बनने के अनुष्ठान;
उच्छृखल कौतूहल, जीवन के स्फुरण, शक्ति के नव निधान,
तुम चिर-अतृप्ति अविरत सुधार !
मेरे किशोर, मेरे कुमार !

(३)

अक्षय संजीवन-प्रद मद से कर अंतरन्तर भरपूर, शूर,
तुम एक चरण में भय, चिंता, संदेह, शोक कर चूर-चूर,
प्राणों की विप्लव-लहर विश्व में पहुँचा देते दूर-दूर!
तुम नवयुग के ऋषि, सूत्रधार!
मेरे किशोर, मेरे कुमार!

(४)

उन्मत्त प्रलय की तन्मयता तुम, तांडव के उल्लास-हास,
युग परिवर्तन की आकांक्षा, उच्छृंखल सुख की तीव्र प्यास,
तुम वन्य कुसुम, तुम नग्न-प्रकृति पावनता की मुग्ध वास,
तुम आडंबर पर पद-प्रहार!
मेरे किशोर, मेरे कुमार!

(५)

तुम यौवन-फल के पुष्प और शैशव-कलिका के हो विकास,
तुम दो विश्वों के संधिस्थल पर आशा के उज्ज्वल प्रकाश;
तुम जीर्ण जगत् के नव-चेतन, वसुधा के उर के अमर श्वास,
तुम उजड़े उपवन की बहार!
मेरे किशोर, मेरे कुमार!

(६)

तुम वह प्राणद संन्देश, बिखर जाते जिससे दुख, दैन्य, क्लेश,
वह मस्ती, जिस पर असुर सुरा, सुर सुधा, गरल वारें महेश;
तुम रवि की प्रखर किरण के निशि के उर में वह निर्भय प्रवेश,

जिससे कँप जाता अंधकार !
मेरे किशोर, मेरे कुमार !

(७)

जो वन-पर्वत को चीर चले, तुम उस निर्झर के खर प्रवाह,
जो कुश-कंटक को प्यार करे, उस राही की 'अटपटी' राह;
जो तड़पे भोग-विलासों में, उस त्यागी उर की उष्ण आह,
तुम संकट-साहस पर निसार !
मेरे किशोर, मेरे कुमार !

(८)

तुम एक-एक वे जलकण जो मिल कर बनते अगणित सागर,
वे एक-एक तारक जिनसे 'जगमग' करता विस्तृत अंबर,
तुम वे छोटे-छोटे रजकण जिन पर असीम वसुधा निर्भर,
तुम लघुता की महिमा अपार !
मेरे किशोर, मेरे कुमार !

(९)

जीवन के दिन गिननेवाले कायर-कृपणों को दहला कर,
पाखंड, मोह, छल, आडंबर के मलिन विश्व से उठ ऊपर,
जो हँसते-हँसते टूट पड़े तारक-सा 'धक-धक' जल क्षण-भर,
तुम वह तेजस्वी, वह उदार !
मेरे किशोर, मेरे कुमार !

(१०)

जो तट से कोसों दूर पहुँच हलका चिंता का भार करे,
मँझधार अतल में अभय विमल दृग् से जिसके अनुराग झरे,
जो जीवन-नौका फँसा भंवर में लहरों से खिलवाड़ करे,
तुम वह तूफ़ानी कर्णधार !
मेरे किशोर, मेरे कुमार !

(११)

तुम नूतन की जय, जिसको सुन कँप उठता जीर्ण जगत 'थर-थर',
वह वायुवेग, द्रुत होती गति जिससे मानवता की मंथर;
वह जाग्रति-किरण, अलस पलकों पर तप्त शलाका-सी लगकर,
जो खुलवाती कर्त्तव्य-द्वार !
मेरे किशोर, मेरे कुमार !

(१२)

माँ के अंचल की ममता या यौवन के सुख का लोभ नहीं,
जर्जरित जरा का पछतावा, बीते जीवन का क्षोभ नहीं;
तुम वर्तमान के कठिन कर्म, छू सकता तुमको मोह कहीं ?
कर सकता बंदी तुम्हें प्यार ?
मेरे किशोर, मेरे कुमार !

(१३)

तुम नहीं डराए जा सकते शस्त्रों से, अत्याचारों से,
तुम नहीं भुलाए जा सकते वीणा की मृदु झंकारों से;
तुम नहीं सुलाए जा सकते थपकी से प्यार-दुलारों से,

तुम सुनते पीड़ित की पुकार !
मेरे किशोर, मेरे कुमार !

(१४)

चल रहे, सींच आशा शोणित से, चरम लक्ष्य अपना पाने,
कितने दुर्गम पथ पार किए, कितने वन पर्वत हैं छाने !
तुम हठी भगीरथ, नवयुग की गंगा के पीछे दीवाने !
इस तप पर जीवन रहे वार !
मेरे किशोर, मेरे कुमार !

(१५)

मेरे 'प्रह्लाद' ! दमन-ज्वाला में मंद-स्मित बिखराते हो !
मेरे 'ध्रुव' ! बाधा चीर इष्ट पथ पर बढ़ते ही जाते हो !
मेरे 'शुक' ! प्रबल प्रलोभन में तुम अविचल धैर्य दिखाते हो !
तुम तप्त स्वर्ण, तुम निर्विकार !
मेरे किशोर, मेरे कुमार !

(१६)

जिसके सम्मुख आ छिन्न-भिन्न हों क्षण में युग-युग के बंधन,
बह जायँ अमित साम्राज्य प्रबल, ढह जायँ समुन्नत स्वर्ण-भवन,
गौरव-सिंहासन, गर्व-मुकुट भू-लुंठित हों बनकर रज-कण,
वह संघ-शक्ति तुम दुर्निवार !
मेरे किशोर, मेरे कुमार !

(१७)

उत्थान-पतन से पूर्ण बने, हो सुखकर अपनी राह तुम्हें,
तुम सैनिक, हो न श्रांत कुटिया में टिक रहने की चाह तुम्हें,
हर असफलता से मिले नई प्रेरणा, नया उत्साह तुम्हें;
तुम रण-सज्जित हो बार-बार!
मेरे किशोर, मेरे कुमार!

(१८)

क्या चिंता? दृष्टि उपेक्षा की डालें तुम पर ज्ञानी-ध्यानी।
केवल रणभेरी याद रखे, भूले न समर का सेनानी!
सौतेली माँ हो शांति भले ही, सुख मृगतृष्णा का पानी!
दें संधि-पत्र तुमको बिसार!
मेरे किशोर, मेरे कुमार!

गुरुता से लघुता की ओर

(१)

घन के प्रथम स्नेह कण से जो पाता है अभिनव अभिषेक,
पर, जीवन से जिसे पृथक् कर देता वैभव का अविवेक,
जिसे अरुण की प्रथम किरण से मिलता है पहला आलोक,
पर, जग का सुख-दुख अनुभव कर जिसे न होता हर्ष, न शोक,
हम न बनें वह गर्वोन्नत गिरि,
हम न विजन में बने महान;

संध्या को गृहिणी की आशा जिस पर पलक बिछाती है,
प्रातःकाल सरल श्रमिकों की टोली गाती जाती है,
हास-अश्रु पथिकों के जिसको अस्थिर रखते हैं दिनरात,
उस पथ में घुल-मिल जो जीवन काट दिया करता अज्ञात,

चलो, बनें हम वह लघु रजकण,
सुख-दुख से कर लें पहचान।

(२)

चपल तरंगों का कोलाहल जिसकी महिमा गाता है,
पर, न मधुर जल का कण जिससे कभी तृषित जग पाता है,
चंद्र-किरण-चुंबन पर मिलता नहीं हर्ष का जिसके छोर,
पर, जग के सुख-दुख पर जिसके उर में उठती नहीं हिलोर,

हम न बनें 'अपने ही में रत'
मुखरित, वह विस्तृत सागर;

चिंतित कृषक, तृषित चातक, जब, वंचित मीन, भग्न-उर भोर,
जग के अगणित नयन ताकते अपलक सूने नभ की ओर,
अंबर से, हो द्रवित, उमड़ता सदय सजल जो श्यामल घन,
उसको जो चुपचाप सौंपता अपना नन्हा-सा जीवन,

'वह नीरव लघु विंदु बनें हम,
हों जग-हित पर न्योछावर।

(३)

घन-गर्जन जिसकी जय-ध्वनि है, है साम्राज्य अखिल अंबर,
भय आतंक और विस्मय से स्वागत होता है घर-घर,
छिप जाती आकर्षित जग का पल भर जो करके उपहास,
जिसे न जग अनुभव कर पाता 'अपनी' कह कर अपने पास,

हम न बनें वह अस्थिर विद्युत्,
हृदय-हीन सुख की मुसकान;

पल-पल तिल-तिल जल-जल भरता कुटिया में जो मधुर प्रकाश,
जलन छिपी जिसके अंतर में, अधरों पर अक्षय मृदु हास,
जिसे देख भूले भटके को मिल जाता पथ का संधान,
बलिदानों का ध्यान न जिसको, मूक त्याग का जिसे न भान,

चलो बनें हम वह लघु दीपक,
'कुटिया में सीमित' अनजान।

मरणोन्मुख

सुख-दुख, हास-अश्रु के जग से ऊपर उठ, होकर अविकार,
मुझे पूर्णता के मधुवन में, कर लेने दो मुक्त विहार,
इस आनंद-उषा में जग का तम-प्रकाश छिप जाने दो,
जीवन के साधना-शिखर पर उत्सव आज मनाने दो,

आ पहुँचा आह्वान, शृंखला टूटी, साध मिटाने दो,
मेरी लघुता को 'विराट्' की महिमा में मिल जाने दो।

बिखरे भाव

गूंज उठी हैं दशों दिशाएँ, सप्त सिंधु, भूगोल, खगोल,
अब तो पलकें खोल 'पुरातन'! तू भी 'नूतन' की जय बोल!

* * *

अरुणोदय के पहले मिटता है तारों का हास;
'मिटना' ही है अखिल विश्व के 'बनने' का इतिहास।

* * *

सर्वनाश की रुद्र मूर्ति के स्वागत में आनाकानी!
हाय, बीज के लोभ! फिर गया फल की आशा पर पानी।

* * *

जैसे लघु लहरों के नीचे सोया सिंधु गहन है।
वैसे जीवन के श्वासों में छिपा गभीर मरण है।

* * *

कहा खड्ग ने मुक्त पवन से—"कर दूंगा मैं तेरा नाश!"
बोला पवन—"कहां से, भोले, फिर तेरा प्रभु लेगा श्वास?"

* * *

कहा विभव ने बड़े दर्प से—"सारे शत्रु हुए निर्मूल!"
निर्दोषों का रक्त नींव में से कह उठा—"मुझे मत भूल"।

* * * *

जहां अभयता की वीणा ले 'मृत्यु' करेगी गान,
होगी वहीं जगत् की 'जीवन' से पहली पहचान।

* * *

क्या जाने विद्युत्-रेखा, जो कर जाती इनका उपहास,
कैसे पल-पल तिल-तिल जल जल देते जग को दीप प्रकाश !

* * *

छोड़ पुष्प-पथ, कुश-कांटों पर चलना है जिसको प्यारा,
उस यौवन के एक निमिष पर वारूँ यह जीवन सारा !

हरिकृष्ण प्रेमी

प्रेमीजी का जन्म संवत् १९६५ में ग्वालियर राज्य के प्राकृतिक दृश्यों से धनी गुना नाम के कस्बे में हुआ था। आप के पिता श्री बालमुकुन्द विजयवर्गीय सार्वजनिक कार्यकर्त्ता के रूप में काफी प्रतिष्ठित हैं। कविता का अभ्यास आपके घर में पुश्तैनी चला आरहा है। आपके पिता और बड़े भाई श्री गौरीकृष्ण विजयवर्गीय भी इस क्षेत्र में अपना चमत्कार दिखा चुके हैं। किन्तु प्रेमीजी ने तो कविता को अपना जीवन ही बना लिया है।

आपकी प्रारम्भिक शिक्षा गुना में, हाईस्कूल की मुरार में तथा उच्चशिक्षा विक्टोरिया कॉलिज लश्कर ग्वालियर में हुई। हाईस्कूल से आपको कविता करने का शौक लगा और कॉलिज में पहुंचते पहुंचते तो आप उसमें आठों पहर डूबे रहने लगे। इसी कारण आपको कॉलिज की शिक्षा से जल्दी ही छुट्टी ले लेनी पड़ी।

आपकी कविता का जन्म वेदना से हुआ है। जब आप ढाई साल के थे आपकी माता का देहान्त हो गया। बचपन से ही आपको स्नेह और सहानुभूति की भूख ने परेशान रक्खा है। आपकी कविताका प्रारम्भ इसी अभाव का चीत्कार है।

आपकी पहली ही पुस्तक 'आँखों में' ने आपका हिन्दी के नवीन कवियों में अच्छा स्थान बना दिया। इसमें प्रेमपथ की अनुभूतियां सरल और मार्मिक ढंग से कही गई हैं। आपकी दूसरी काव्य पुस्तक 'जादूगरनी' 'माया' के विभिन्न रूपों का चित्रण है। इसमें उतनी अनुभूति नहीं, जितनी कल्पना है। तीसरी पुस्तक 'स्वर्ण विहान' एक राष्ट्रीय पद्यनाटिका है, यह सरकार द्वारा ज़ब्त कर ली गई है। चौथी पुस्तक 'अनन्त के पथ पर' ने हिन्दी काव्य जगत् में अपना अलग स्थान बनाया है। इस में आत्मा का परमात्मा के पाने के प्रयत्न का रूपक है, अध्यात्म को हृदय की कोमल भावनाओं में एकरस कर दिया गया है। यह पुस्तक रहस्यवाद का सुन्दरतम उदाहरण है। आपकी फुटकर कविताएं भी प्रिय रही हैं। आजकल आपकी कविताओं की धारा बदल गई है, उनमें दलित, तृषित, भूखे पराजित और व्यथित हृदयों का विद्रोह प्रवाहित हो उठा है।

आपकी कविता की विशेषता है गहरी अनुभूति, सरल वर्णन शैली और भाषा की स्वाभाविकता। आपके काव्य में कहीं भी प्रयास और बनावट के दर्शन न होंगे।

कवि होने के साथ आप उत्कृष्ट नाटक लेखक भी हैं। नाटकों में आपने राष्ट्रीय एकता का वातावरण निर्माण करने का यत्न किया है। उनमें 'रक्षाबन्धन' 'पाताल-विजय' 'शिवा-साधना' और 'प्रतिशोध' का हिन्दी में बहुत आदर हुआ है। 'स्वप्नभंग' आपकी नवीनतम नाटक रचना है।

संपादक "रेखा"

वेदना

तिरस्कार के ही काले—
अंचल में पला हुआ प्राणी—
सुख से सहता हूँ अपमानों—
की मैं सारी मनमानी !

दुख से छके हुए प्राणों का,
थका हुआ कोमल तन हूँ।
करुणा के चरणों पर अपना,
चढ़ा चुका यह जीवन हूँ।

न तो पूछता ही है कोई,
न मैं बताता अपनी प्यास !
सब से ठोकर खाकर कैसे,
करूँ किसी का मैं विश्वास ?

समझ सकेगा क्या कोई भी,
अन्तस्तल की मूक पुकार?
व्यर्थ मिलाता हूं रो-रोकर,
मिट्टी में मोती लाचार।
मेरा दुख हत्यारे जग का—
बन जाए न खिलौना-सा,
इस भय से उर की कुंजों में,
छिपा रखा मृग-छौना-सा!

जादूगरनी

री जादूगरनी छविमान,
अपनी इच्छा से तू कितने
रूप बदलती है, बाले!
लखकर दर्शक चकित, मुग्ध कवि,
हुए मूक गाने वाले।

एक घड़ी भी स्थिर कब रहता
तेरा मादक रूप अनूप,
चित्रकार अंकित कर सकता है
तेरा किस भांति स्वरूप।

लहर घड़ी भर में बन जाती,
एक घड़ी में ही तूफ़ान।
अभी सरलता और नम्रता,
अभी कठिनता औ' अभिमान।

क्षण में फूल, शूल क्षण भर में,
पल में पतझड़ या मधुमास,
करुणा, अश्रु, विकलता, पीड़ा,
या आनन्द, मधुरिमा, हास।

कभी दिवस का कोलाहल बन
सञ्चालित करती संग्राम,
कभी निशा की मादकता बन
शीतल करती है हृद्धाम।

कहीं, सजनि, छाया बन जाती,
कहीं धूप चमकाती है,
अश्रु बहाती किसी जगत् में,
कहीं मधुर मुसकाती है।

कृष्ण-पक्ष की निशि बन कर तू
कभी अँधेरा छाती है!
कभी शरद् की पूनों बन कर
ज्योत्स्ना-जाल बिछाती है।

कभी ग्रीष्म की दोपहरी बन
उर में लपट लगाती है,
कभी घटा-सी घिर कर शीतल
जीवन-धार बहाती है।

कभी सुधा का स्रोत, कभी विष,
क्या-क्या रूप दिखाती है !
बुद्धि भूलती सुध अपनी, जब
तुझे समझने आती है ।

तू रहस्य है, इसी लिए तो,
लगती है जग को प्यारी,
ऐ अनन्त की कली, जगत् की—
तेरे बिना शून्य क्यारी !

उपेक्षित दीप

आज शिखा प्रज्वलित हुई है इस दीपक की अन्तिम बार,
मेरे चारों ओर बिदा का विस्तृत हुआ करुण संसार,
पूरी एक रात भी जल कर किया न कुटिया का शृंगार,
अब बुझता हूँ, किसी हृदय ने ढाली नहीं स्नेह की धार !

जग तो बिजली पर मरता है,
जहाँ स्नेह का नहीं निशान;
मेरी इस छोटी-सी लौ का,
यहाँ नहीं हो सकता मान।

अनंत के पथ पर

वह कितनी दूर कहां है,
इसका क्या पता लगाऊँ?
केवल इच्छा है इतनी
मैं उसमें ही मिल जाऊँ।

शत-शत पथ उस प्रियतम के
यह जगती बतलाती है,
उन पर अबोध मति चल कर
भ्रम-तम में खो जाती है।

वह कभी हृदय के भीतर
ही गाने लगता गाने,
फिर भी यह हृदय भटकता
है उसके दर्शन पाने।

वह क्या है इसका जग को
अब तक कुछ ज्ञान नहीं है,
वह आकर फिर जाता है
उसकी पहचान नहीं है।

वह रूप बना भिक्षुक का
है भीख माँगने आता,
दे भेंट गालियों की जग
है घर से उसे भगाता।

वह रूप कोढ़ियों का रख
पथ पर है 'आहें' भरता,
पर जगत दम्भ के कारण
उस ओर न आँखें करता।

मुझको भी धोखा देता
है क्यों अमरों का स्वामी,
क्यों 'रूप' नहीं दिखलाता
जीवन-धन, अंतर्यामी।

यह 'तरणी' भी बंधन है,
'पतवार' भुलावा प्यारा,
इन लकड़ी के टुकड़ों से
मिल सकता कहीं किनारा!

जप, तप, पूजन, व्रत, साधन,
दिखता सब अभिनय भ्रम का।
समझा न रूप प्रियतम का,
कब पर्दा हटता तम का।

मैं किन आँखों से देखूँ
अपनी आँखों का 'तारा'!
आलोकित मेरे उर का
अब प्रिय करदे उजियारा।

क्यों अंधकार में केवल
मैं गिनूँ गगन के तारे।
ये अस्थिर जगमग दीपक
भ्रम की छाया हैं सारे।

'तरणी' को छोड़ यहीं पर
मैं लहरूँगी लहरी बन।
नभ में बन पवन बहूँगी
मैं तोड़ जगत के बंधन।

यह एक 'बूँद' जब अपना
'अस्तित्व' मिटा डालेगी,
तब महासिंधु में मिलकर
लहरों में लहरावेगी।

जग जिसको दीप समझता
वह केवल भ्रम की छाया,
ऐश्वर्य प्राप्त करने की
धुन में अमरत्व गँवाया।

गीत

अविरत पथ पर चलना री।

गति, जीवन का चरम लक्ष्य है;
विरति, मुक्ति, सब छलना री।
अविरत पथ पर चलना री।

'रण में सहसा मरण' महत है,
पर, क्या वह जीवन का 'सत' है ?
जीवन तो बलि-पथ शाश्वत है—
अणु-अणु करके गलना री।
अविरत पथ पर चलना री।

सरल, चिता-शय्या पर सोना;
कठिन दुःख सहना—सब खोना,
मिट जाना, पर विकल न होना,
तिल-तिल करके जलना री।
अविरत पथ पर चलना री!

———

हरिवंशराय 'बच्चन'

बच्चनजी का जन्म सं० १९६५ में इलाहाबाद में हुआ था। वे प्रारम्भिक स्कूल जीवन के दिनों में ही आर्यसमाज की भजन पुस्तकों को देख कर पद्य-निर्माण का प्रयत्न करने लगे थे। माता पिता ने उनकी इस प्रवृत्ति को पसंद नहीं किया। उन्हें मालूम नहीं था कि उनका पुत्र एक दिन इसी दिशा में अपने कुल का नाम उज्ज्वल करेगा। कॉलेज-जीवन में 'बच्चन' जी ने कहानियाँ लिखने का प्रयास किया और इस दिशा में भी उन्हें अपने कॉलेज में अच्छी लोकप्रियता प्राप्त हुई। परन्तु इलाहाबाद विश्व-विद्यालय में एम० ए० का छात्र रहते हुए उन्होंने 'उमर खय्याम की रुबाइयों

का जो हिन्दी अनुवाद किया उसका हिन्दी जगत् में और भी अच्छा स्वागत हुआ। इससे उनको अच्छा प्रोत्साहन मिला और उसी ढंग पर 'मधुशाला' 'मधुबाला' और 'मधुकलश' आदि उन्होंने बहुत सी मौलिक कविताएं लिखीं। हिन्दी जनता ने इन कविताओं को बहुत अधिक पसन्द किया। बच्चन जी की शैली में जो सरलता, सरसता, खुलापन और चोट करने की शक्ति थी, दुःसह छायावाद से ऊबी हुई हिन्दी जनता ने उसका खूब स्वागत किया।

सं० १९९४ में बच्चन जी की धर्मपत्नी का देहान्त हो गया। इस दुर्घटना से उन्हें जो चोट पहुँची उसके कारण उनकी रचनाएं भी गहरी वेदना से ओत-प्रोत हो गईं। 'निशा-निमन्त्रण' में उनकी इसी ढंग की रचनाएं संगृहीत हैं। सब से ताज़ी रचना 'एकान्त संगीत' में उनकी प्रतिभा एक नई दिशा में विकसित हुई है। ऐसा जान पड़ता है, जैसे वेदना की ललकार को उन्होंने स्वीकार कर लिया है और उनमें परिस्थितियों से मुकाबला करने की भावना प्रबल हो उठी है।

बी० ए० तथा एम० ए० परीक्षाएँ पास कर लेने के बाद बच्चन जी आजकल 'डाक्टरेट' की तय्यारी में हैं। अंग्रेज़ी साहित्य के सम्बन्ध में उनका अध्ययन विशाल है और उसकी छाप उनकी रचनाओं पर भी देख पड़ती है, यद्यपि उनकी रचनाएं एकदम मौलिक हैं। हिन्दी को बच्चन जी से बहुत बड़ी आशाएं हैं।

दिन जल्दी-जल्दी ढलता है !

हो जाय न पथ में रात कहीं,
मंज़िल भी तो है दूर नहीं—
यह सोच थका दिन का पंथी भी जल्दी-जल्दी चलता है !
दिन जल्दी-जल्दी ढलता है !

बच्चे प्रत्याशा में होंगे,
नीड़ों में झाँक रहे होंगे—
यह ध्यान परों में चिड़ियों के भरता कितनी चंचलता है !
दिन जल्दी-जल्दी ढलता है !

मुझसे मिलने को कौन विकल ?
मैं होऊँ किसके हित चंचल ?
यह प्रश्न शिथिल करता पद को भरता उर में विह्वलता है !
दिन जल्दी-जल्दी ढलता है !

आ, सोने से पहले गा लें!

जग में प्रात पुनः आएगा,
सोया जाग नहीं पाएगा;
आंख मूँद लेने से पहले, आ, जो कुछ कहना कह डालें!
आ, सोने से पहले गा लें!

दिन में पथ पर था उजियाला,
फैली थी किरणों की माला;
अब अँधियाला देश मिला है, आ, रागों का दीप जला लें!
आ, सोने से पहले गा लें!

काल-प्रहारों से उच्छृंखल
जीवन की लड़ियाँ विशृंखल,
इन्हें जोड़ने को, आ, अपने गीतों की हम गाँठ लगा लें!
आ, सोने से पहले गा लें!

अब मत मेरा निर्माण करो!

अब मत मेरा निर्माण करो!

तुमने न बना मुझको पाया,
युग युग बीते मैं घबराया;
भूलो मेरी विह्वलता को, निज लज्जा का तो ध्यान करो।
अब मत मेरा निर्माण करो!

इस चक्की पर खाते चक्कर
मेरा तन-मन-जीवन जर्जर;
हे कुम्भकार, मेरी मिट्टी को और न अब हैरान करो!
अब मत मेरा निर्माण करो!

कहने की सीमा होती है,
सहने की सीमा होती है;
कुछ मेरे भी वश में, मेरा कुछ सोच समझ अपमान करो!
अब मत मेरा निर्माण करो!

कवि की निराशा

पूछता जग, है निराशा से
भरा क्यों गान मेरा ?

(१)

है चमकता जो सितारा
वह प्रभा से हीन होगा,
बढ़ रहा जो चांद नभ में
एक दिन फिर क्षीण होगा;

क्षीण होगा पूर्ण फिर से,
म्लान फिर द्युतिमान होगा,

भ्रांत इस आवर्त में ही
विश्व-जीवन लीन होगा;

किस विजय पर ढोल पीटूँ,
किस पराजय पर धुनूँ सिर?
रात-दिन-सा जड़ नियम से
बद्ध पतनोत्थान मेरा।

पूछता जग, है निराशा से
भरा क्यों गान मेरा?

(२)

खिल मृदुल-सुकुमार कलिका-
पुष्प मुरझाने न पाए,
लहलहाते उपवनों में
वायु पतझड़ की न आए,

कोकिला सकरुण स्वरों में
मत विदा मांगे द्रुमों से,

हों न झूठे स्वप्न कवि के
जो गए युग-युग सजाए—

यह न हो तो किन सुखों का
गीत मुखरित कंठ से हो?
विश्व पूरा कर सका है
कौन-सा अरमान मेरा?

पूछता जग, है निराशा से
भरा क्यों गान मेरा?

(३)

एक दिन मैंने लिया था
काल से कुछ श्वास का ऋण,
आज भी उसको चुकाता,
ले रहा वह क्रूर गिन-गिन,

व्याज में मुझ से उगाहा
है हृदय का गान उसने,

किंतु होने में उऋण अब
शेष केवल और दो दिन,

फिर पड़ूँगा तान चादर
सर्वथा निश्चिंत होकर,
भूल कर जग ने किया किस-
किस तरह अपमान मेरा!

पूछता जग, है निराशा से
भरा क्यों गान मेरा?

(४)

क्यों लगा रजकण सँजोने
त्याग कुंदन का डला मैं?
क्यों फिरा कंटक वनों में
छोड़ पथ फूला-फला मैं?

हास विद्युत का छिपा क्यों
अश्रु-धारा में बरसता ?

था सुधा में जब निमज्जित
क्यों गरल पीने चला मैं ?

बूझ दुनिया यह पहेली
जान कुछ मुझको सकेगी,
हो चुकेगा किन्तु इसके
पूर्व ही अवसान मेरा !

पूछता जग, है निराशा से
भरा क्यों गान मेरा ?

जीवन-तरुवर

(१)

भावुकता की हरियाली में,
हरे रहो, जीवन के तरुवर !
सरस कल्पना के सुमनों से
भरे रहो जीवन के तरुवर :

(२)

गान विहंगों के शरणस्थल
बने रहो जीवन के तरुवर !
रसिक पथिक पर छाया के हित
घने रहो, जीवन के तरुवर !

(३)

विपदाओं की अंध वायु में
तने रहो, जीवन के तरुवर!
अपने सौरभ की मस्ती में
सने रहो, जीवन के तरुवर।

आत्म-परिचय

मैं जग-जीवन का भार लिए फिरता हूँ,
फिर भी जीवन में प्यार लिए फिरता हूँ,
कर दिया किसी ने झंकृत जिनको छूकर,
मैं सांसों के दो तार लिए फिरता हूँ।

मैं निज उर के उद्‌गार लिए फिरता हूँ,
मैं निज उर के उपहार लिए फिरता हूँ,
है यह अपूर्ण संसार न मुझको भाता,
मैं स्वप्नों का संसार लिए फिरता हूँ!

मैं जला हृदय में अग्नि दहा करता हूँ,
सुख-दुख दोनों में मग्न रहा करता हूँ;
जग भव-सागर तरने को नाव बनाए,
मैं मन-मौजों पर मस्त बहा करता हूँ।

मैं यौवन का उन्माद लिए फिरता हूँ,
उन्मादों में अवसाद लिए फिरता हूँ;
जो मुझको बाहर हँसा, रुलाती भीतर,
मैं, हाय, किसी की याद लिए फिरता हूँ!

कर यत्न मिटे सब, सत्य किसी ने जाना?
नादान वहीं है, हाय, जहाँ पर दाना!
फिर मूढ़ न क्या जग, जो इस पर भी सीखे
मैं सीख रहा हूँ, सीखा-ज्ञान भुलाना!

मैं और, और, जग और, कहाँ का नाता!
मैं बना-बना कितने जग रोज़ मिटाता!
जग जिस पृथ्वी पर जोड़ा करता वैभव,
मैं प्रतिपग से उस पृथ्वी को ठुकराता!

मैं निज रोदन में राग लिए फिरता हूँ,
शीतल वाणी में आग लिए फिरता हूँ,
हों जिस पर भूपों के प्रासाद निछावर,
मैं वह खंडहर का भाग लिए फिरता हूँ!

मैं रोया इसको तुम कहते हो गाना!
मैं फूट पड़ा, तुम कहते छंद बनाना!
क्यों कवि कह कर संसार मुझे अपनाए!
मैं दुनिया का हूँ एक नया दीवाना!

मैं दीवानों का वेष लिए फिरता हूँ,
मैं मादकता निःशेष लिए फिरता हूँ;
जिसको सुनकर जग झूम, झुके, लहराए,
मैं मस्ती का संदेश लिए फिरता हूँ!

शब्द-कोश

कबीर

पृष्ठ

५ साखी—ज्ञान और उपदेश से मिले दोहे।

साँई—स्वामी; परमात्मा।

पुहुपन—पुष्प।

बास—सुगन्ध।

घट—घड़ा, यहाँ शरीर से अभिप्राय है।

पृष्ठ

पारस—एक पत्थर, जिसे छुआने से लोहा सोना होजाता है।

कंचन—सोना।

रसायन—वृद्ध शरीर में यौवन का सा तेज लाने वाली औषधि।

रेचक—थोड़ा।

वैकुंठ—विष्णु का लोक।

पृष्ठ

६. सत्त नाम—सदा सनातन रहने वाले ईश्वर का नाम।

सूप—छाज।

छीर—दूध।

तत—तत्त्व—ईश्वर।

निःकामी—कामना—इच्छा से हीन।

चौगान—खेलने का मैदान।

हाट—दूकान।

७. अघट—न घटने वाला, पूर्ण।

पिंजर—शरीर।

गुरु—परमात्मा।

साँकरी—तंग।

अमल—मादक-नशीली वस्तु।

जनि—मत।

कुरँग—हिरन।

कर—हाथ।

८. रहँट—रहट, एक यन्त्र जिसके द्वारा कुएं से पानी निकलता है।

उदर समाता—पेट भर-जितना पेट में समा सके।

नख-सिख—पाँव के नाखून से शिखा—चोटी तक-सारा शरीर।

पृष्ठ

दुखभंजना—दुःख दूर करने वाला।

अँतरजामी—भीतर की जानने वाला, सर्वज्ञ।

समरथ—समर्थ, शक्तिमान।

धुरही—अन्त तक, स्थिर पद पर।

९. लँघना—भूखा।

बनराय—वनराज, सिंह।

मसि—सियाही।

ठौर—स्थान।

भेदी—परिचित।

सूरा का दल—शूरवीरों की सेना

खेह—धूल।

१०. हिम—बरफ।

कुम्भ—घड़ा।

भँगार—घास फूस, कपट, पाप।

उपाधि—दुख, चिन्ता।

कित—कहाँ।

११. बहुरि—फिर, दोबारा।

नारी—स्त्री, नाड़ी।

पौन—पवन, प्राण।

तिरसूल—त्रिशूल शूल—दुःख उत्पन्न करने वाला शस्त्र, काँटा।

पृष्ठ

आपा—अभिमान ।

कलह—झगड़ा, शोर ।

मीच—मृत्यु ।

१२. सोय—उत्पन्न होती है ।

चीर—वस्त्र ।

स्रवन—श्रवण, कान ।

सालै—काटती है ।

साहु—साधु, सज्जन ।

बाट—मार्ग, रास्ता ।

मीन—मछली ।

१३. म्यान—यहाँ शरीर से अभिप्राय है ।

सील—शुद्ध आचार-व्यवहार ।

अलख—अदृष्ट, अनदेखा, जिसे देखा न जा सके, ईश्वर ।

संजमी—संयमी, इन्द्रियजित ।

उत्पात—उपद्रव, ऊधम, दंगा ।

भृगु—एक ऋषि का नाम ।

आप—परमात्मा ।

१४. करगस—तीर ।

हाड—यहाँ शरीर से अभिप्राय है ।

गोधन—गाएं ।

पृष्ठ

बाजधन—घोड़े ।

१५. टूक—रोटी का टुकड़ा ।

स्वान—कुत्ता ।

पैठि—घुस कर ।

बपुरा—बेचारा, नीच ।

लघुताई—छोटापन ।

दुतिया—दूज तिथि ।

कीरी—चींटी ।

कुंजर—हाथी ।

१६. साँचे—सच बोलने वाले को ।

पतीजई—विश्वास करता है ।

गोरस—दूध ।

गाडर की ठाट—भेड़ों की कतार ।

पीर—गुरु, फकीर (२) पीड़ा ।

बहियां—बाहु, बाजू ।

बिरानी—दूसरों की ।

१७. अघाय—इच्छा भर, पूर्णता से ।

धाय—दौड़ कर ।

अंतर—भेद ।

सकत—शक्ति ।

घनी—बहुत, काफी ।

पृष्ठ

लाहे—लाभ।

अजहुँ—आज तक, अब तक।

तृषा—प्यास।

अनहद—समाधि की अवस्था में ब्रह्मरंध्र के पास से निकलने वाला शब्द संगीत।

संग—इन्द्रियों के विषयों की चर्चा।

निसि—रात।

सुरत—आदि ध्वनि, ध्यान।

१८. हरिजन—ईश्वर भक्त।

मुक्ताहल—मोती।

कै—अथवा, या।

उदासी—सुख दुख में एक सा।

निबेरा—निर्णय।

बदन—मुख।

अधर—होंठ।

पूर—पूर्ण।

ओर ते छोर लौं—एक ओर से दूसरी ओर तक।

बट-पार—बटमार, रास्ते में मार कर सामान छीन लेने वाला।

पृष्ठ

चीकने—मीठी मीठी बातें करने वाले।

घात—प्रहार, चोट, हत्या, बुराई।

बकुलध्यानी—बगुला भक्त।

सितलता—शीतलता, ठंडक।

धूरधानी—धूली का ढेर।

सुकृति—अच्छे काम।

सुघर—सुन्दर, चतुर, निपुण।

पय—दूध।

१९. हजूरे—ईश्वर।

धूरमधूरे—चकनाचूर, धूलमटी।

तँबूरे—यहाँ शरीर से अभिप्राय है।

सोधि—शास्त्रों को पढ़ कर।

आवागमन—आना जाना, जीने और मरने का चक्र।

सरग—स्वर्ग।

धौं—मालूम नहीं, अथवा।

पद—मोक्ष, मुक्ति।

पारधि—शिकारी, व्याध।

२०. बलि—दैत्यों का एक राजा।

आपु—यहाँ श्रीकृष्ण से अभिप्राय है।

पृष्ठ

भानु—सूर्य ।

बिधी—भाग्य ।

महजिद—मस्जिद ।

पग—पैर ।

नेवर—नूपर, पायजेब ।

कतरनी—कैंची ।

नेव—नींव, बुनियाद ।

मनसूबा—इरादा, विचार ।

सतवंती—सती, पतिव्रता स्त्री ।

गजी—मोटा कपड़ा, गाढ़ा, खद्दर।

खासा—सूती पतला कपड़ा ।

२१. तुरक—मुसल्मान ।

हटा—निषेध, मनाही ।

सेती—से, साथ।

पारन—व्रत की समाप्ति।

सगोती—गोत्री-बन्धु लोगों के साथ ।

भिस्त—बहिश्त—स्वर्ग ।

मेहर—दया ।

हिए—हृदय ।

गुदरी—फटे पुराने टुकड़ों के जोड़ से बना हुआ कपड़ा ।

पृष्ठ

नाहक—व्यर्थ, बेकाम ।

२२. धरमराय—धर्मराज, यमराज।

फेरा—दोबारा ।

मीन—मछली ।

अबिनासी—न नाश होनेवाला, ईश्वर ।

चंदा—चन्द्रमा यहां आत्मा, ईश्वर से अभिप्राय है ।

२३. ममता—मेरापन ।

स्यार—गीदड़ ।

उकठा—सूखा ।

पिंड—श्राद्ध ।

बौराई—पागल ।

प्रतिबिंब—छाया—अक्स ।

दुविधा—दोरंगी—सुख-दुख, राग-द्वेष ।

हेम—बरफ, पाला ।

पख त्यागे—पक्ष छोड़े ।

जती—यती इन्द्रियजित, संन्यासी।

मुक्ता—मुक्त, दुःखों से छूटा हुआ ।

२४. थापे—स्थापित करना ।

पृष्ठ

वृच्छा—वृक्ष ।
माया—प्रकृति, पाँच भूत आदि ।
खट दरसन—छः दर्शनशास्त्र ।
भेखा—स्वरूप ।

पृष्ठ

हमहिं अतीत—हमें छोड़कर ।
रूप नहीं रेखा—आकार और चिह्न नहीं है ।

सूरदास

२९. राई—राजा ।
पंगु—लंगड़ा ।
गिरि—पहाड़ ।
मूक—गूंगा ।
रंक—दरिद्र, भिक्षुक, कंगाल ।
करुनामय—दयापूर्ण, दयालु ।
पाई—चरण ।
विख्यात—प्रसिद्ध ।
पावन—पवित्र करने वाला ।
पासंगहुँ—एक छोटा सा भाग भी ।
अजमिल—एक पापी का नाम ।
जमनि—यमदूतों ने ।
हठि—ज़बरदस्ती से ।
तारो—ताला ।
छुद्र—क्षुद्र, नीच ।
रमापति—लक्ष्मीपति, श्रीकृष्ण ।
जनि—मत, न ।
गारो—बढ़ाई, अभिमान ।
विरद—यश, कीर्ति ।
विगरी—विगड़ी अवस्था ।
सँभारी—सुधार दीजिए ।

३०. सुधि—खबर, याद ।
तिय—स्त्री ।
तनत्वच—देह की चमड़ी, खाल ।
श्रवण—कान ।
पलित—सफ़ेद ।
कल—चैन, आराम ।
बिथा—व्यथा, पीड़ा, कष्ट ।
माधव—लक्ष्मीपति, कृष्ण ।
भव-अम्बुनिधि—संसार रूपी सागर ।
ग्राह-अनंग—कामदेव रूपी मगर ।
मोट—गठरी ।

पृष्ठ

अघ—पाप।

पग—पैर।

उरझि—उलझ कर।

मोह-सिवार—मोह-अज्ञान रूपी जल की घास अथवा काई।

चितवन—होश।

बेहाल—बुरी दशा में।

विह्वल—दुखी।

गहि—पकड़ कर।

कूल—किनारे।

औगुन—अवगुण, बुराइयाँ।

समदरसी—पापी और पुण्यात्मा सब को एक दृष्टि से देखने वाले।

पनहि—प्रण प्रतिज्ञा।

३१. बधिक—ब्याधा, शिकारी।

दुविधा—द्वैत, भेद-भाव।

नार—नाला।

सुरसरि—देव नदी, गंगा।

अंतरजामी—हृदय की जानने वाले, ईश्वर।

करनी—अच्छे कर्म।

पृष्ठ

आगन—पाप (सं० आगस्)

प्रपंच—कपट, ठगी।

पोट—गठड़ी।

दारा—स्त्री।

हौं—मैं।

बेगि—शीघ्र।

टरिहौ—टलूँगा, पीछा छोड़ूँगा।

कै—अथवा, या।

भरोसो—विश्वास।

चहौ पीढ़िन—चार पीढ़ियों से।

निस्तरिहौं—पार होऊँगा।

कत—क्यों।

परतीत—विश्वास।

बीरा—लगा हुआ पान।

३२. भीजत—डूबते हुए।

उबारो—बाहर निकालो उद्धार करो।

जन—भक्त, दास।

घटा—आँधी।

सलिता—नदी।

मैन—कामदेव।

कतहूँ—कहीं भी।

पृष्ठ

ओट—आश्रय।

नारो—नदी-नाला।

उधारो—उद्धार, छुटकारा।

तड़ित—बिजली।

अहनिसि—रात दिन।

जारो—जलता है।

कलिमलहि—कलि पापों की मैल दोष।

सहस—सहस्र, हज़ार।

अविगत गति—अव्यक्त, अप्रकट, ब्रह्म की बात।

अन्तर्गत—हृदय में ही।

अमित—बहुत से, अपार।

तोष—संतोष, प्रसन्नता।

अगम अगोचर—पहुँच से बाहर, इन्द्रियों से अतीत।

जुगति—युक्ति, योग सम्बन्ध

निरालंब—सहारे के बिना।

सगुन—सत्त्व-रज-तम प्रकृति के गुणों से पूर्ण, साकार।

अनत—अन्यत्र और कहीं।

पुनि—फिर।

पृष्ठ

कमलनैन—कमल के समान आँखों वाला, श्रीकृष्ण।

महातम—महात्म्य, महिमा।

दुर्मति—दुष्ट बुद्धि वाला, मूर्ख।

कूप—कुआँ।

खनावें—खोदता है।

३३. मधुकर—भंवरा।

अंबुजरस—कमल फूलों का रस।

कामधेनु—सम्पूर्ण इच्छित फल देने वाली गाएँ।

छेरी—बकरी।

भुजंग—सांप।

कागहि—कौवे को।

गंग—गंगा।

खर—गधा।

अरगजा—सुगंधित पदार्थ।

मरकट—वानर।

सरिता—नदी।

बहुरि—फिर।

खहि—धूल।

छंग—उछंग, गोद (शरीर पर)

पाहन—पत्थर।

पृष्ठ

रीतो—खाली ।

निषंग—तरकस ।

कारी कामरि—काला कंबल ।

हेत—हेतु, कारण ।

आपुन पौ—अपनापन ।

सेत—सफेद ।

रुंध्यों—रुक गया ।

बैन—वचन

चंद्रा—आँख की पुतली ।

सँकेत—उलटने लगी ।

गंगोदक—गंगाजल ।

गाड़े प्रेत—मरे हुए ।

किन—क्यों नहीं ।

पात—पत्ते ।

१४. बेगि—शीघ्र ।

खैहै—खायेगा ।

ताल—गर्व से भरे शब्द ।

जस-अपजस—यश और अपयश ।

दुरलभ देवन को—देवताओं के लिये दुर्लभ ।

कुसलात—कुशल से, भला-चंगा ।

कमला चपला—चंचल लक्ष्मी ।

पृष्ठ

मग—रास्ता ।

बिलखात—तड़पते हैं ।

इतरात—अभिमान करता है ।

तरुनापन—यौवन, जवानी ।

औसर—अवसर, मौका ।

पालने—झूला ।

हलरावे—हिलाती है ।

मल्हावै—पुचकारती है ।

निंदरिया—निद्रा ।

३५. सैन—इशारा ।

इहिं अंतर—इतने में ।

जसुमति—यशोदा ।

अमर—देवता ।

नंद-भामिनी—यशोदा ।

बृंद—समूह ।

तमचुर—ताम्रचूड, मुर्गा ।

खग रौर—पक्षियों का शोर ।

वनराई—वनराज पशु पक्षी ।

रौंभति—ऊँचा शब्द करती है ।

खरिकन—गोशाला ।

बिधु—चन्द्रमा ।

रवि—सूर्य ।

पृष्ठ

कनक-आँगन—स्वर्ण से जड़ा हुआ आँगन।

कुलहि—टोपी, कल्गी।

लसति—शोभा पाती है।

सुभग—सुन्दर।

सुरंग—सुन्दर रंग।

घन—बादल।

मघवा—इन्द्र।

सुदेस—सुन्दर स्थान।

चिकुर—केश, बाल।

मृदु—कमल।

बगराई—फैले हुए।

कंज—कमल।

मंजुल—सुन्दर।

अलि-अवली—भंवरों की कतार।

लुनाई—सुन्दरता।

सनि—से।

गुरु-असुर—दैत्यों के गुरु शुक्र, सफेद रंग।

देव गुरु—देवताओं के गुरु बृहस्पति, पीत रंग।

भौम—मंगल, लाल रंग।

पृष्ठ

समुदाई—समूह, सब।

दूध-दंत-दुति—दूध के दाँतों की शोभा।

उपमाई—सुन्दरता।

दुरत—छिप जाते हैं।

बिज्जु—बिजली।

३६. खंडित वचन—अस्फ्ट टूटे हुए वचन, तोतली बातें।

अल्प-अल्प जल्पाई—थोड़ा थोड़ा बोलना।

रेनु—धूल।

धरि पाए—पकड़ लिये गये।

निशि बासर—रात दिन।

अचगरी—ज्यादती।

चीन्हीं—पहिचान लिया।

नेकु—थोड़ा।

मुखतन—मुँह की तरफ।

रिस—क्रोध

गई बुझाई—शांत हो गई।

ख्याल परे—दिल्लगी करने की इच्छा से।

सींके—छिक्का।

पृष्ठ

भाजन—पात्र, बरतन।

निरखि—देख कर।

नान्हे कर—नन्हे से हाथ।

दौना—पत्तों का दोना।

दुरायो—छिपा लिया।

साँटि—छड़ी।

बाल-बिनोद-मोद—बाललीला का आनन्द।

बिरंचि—ब्रह्मा।

३७. रेंगत—घूमना।

घाम—गरमी, धूप।

टेक—हठ।

दाऊ—बलदेव।

जायौ—उत्पन्न किया।

सिखै—शिक्षा।

खीझै—डाँटती।

चबाई—चालाक।

धूत—कपटी।

३८. गुसैयाँ—स्वामी, बड़ा।

श्रीदामा—सुदामा।

बरबसहीं—ज़बरदस्ती से।

रिसैयां—क्रोध, गुस्सा।

पृष्ठ

छैयां—छत्रछाया, आश्रय, अधीन।

रुहाठि—बेईमानी।

ग्वैयां—सखा साथी।

नंद-दुहैयां—नंद की दुहाई।

खिसाने—शर्माना, क्रुद्ध होना।

ललकि—इच्छा से।

हलधर—बलराम।

पठाई—भेजा।

टेरत—पुकारते हैं।

बार—देर।

बिलम—देरी।

अँचयौ—खाया।

सुरभी—गाएं।

३९. बूझै—पूछता है।

चारों—दो देखने के और दो ज्ञान के नेत्र।

तनु—शरीर

फूँक—फूंक दिया, जला दिया।

द्वै टूक—दो टुकड़े होकर।

धिग—धिक्कार है।

बिछुरन—बिछोह, वियोग।

जोवति—देखती हैं।

पावस—वर्षा ऋतु।

पृष्ठ

विदमान—विद्यमान, मौजूद।

हुतो—था।

अवराधै—आराधना, उपासना करे।

ईस—निर्गुण ईश्वर।

स्वासा—सांस, प्राण।

बरांस—वर्ष।

जोग के ईस—योग के स्वामी।

रसिक—प्रेमी।

पुरवौ—पूरी करो।

४०. विष कारा—विष का कीड़ा।

अघात—तृप्त होना।

कोरि—खोद कर।

सुहात—अच्छा लगता है।

रूप रस राँची—रूप देखने के रस में डूबी हुई।

बतियां—बातें।

अवधि—नियत समय।

झूखी—खीझी, पछताई।

वारक—एक बार।

पतूखी—पत्तों का छोटा सा दोना।

विहंगम—पक्षी।

पृष्ठ

भीत—डरा हुआ।

जमुन—यमुना।

छीन—दुबला।

वसन—वस्त्र

४१. कृस गात—दुबली।

हूंकति—रंभाती है।

नाँव—कृष्ण का नाम।

ठाँव—स्थान।

काढि डारी हैं—निकाल दी गई हैं।

वारिमध्यतैं—पानी के बीच में से।

पनारे—परनाले, धाराएं।

गोसुत—बछड़े।

सोभित—मालूम होते है।

काहूँ—किसी ने भी।

अलिसुत—भौंरा।

जलसुत—कमल।

संपुट—डोडी (कमल की)

सारँग—मृग, हरिण।

नाद—शब्द, स्वर, राग।

४२. ठाढ़ें—खड़े।

निलज—लज्जा से हीन।

पृष्ठ

पुहुप—पुष्प।

ससा—खरगोश।

स्यार—गीदड़।

उकठ—सूखा।

बिखान—बजाने का सींग।

बेर-सवेरो—समय समय पर।

जिनि—न, मत।

कछुक—कोई भी।

भोरहि—प्रातःकाल।

कलेऊ—कलेवा, प्रातःकाल का जलपान।

धैया—ताज़े दूध की धारा।

मोपै—मुझ से।

जायो—पुत्र।

निठुर—निष्ठुर, कठोर।

मधुपुरी—मथुरा।

बहुरौ—फिर।

सोध—खबर।

पृष्ठ

४३. हंस-सुता—सूर्य की बेटी यमुना नदी।

कगरी—घाट की भूमि।

कुंजन—वृक्ष-लतायुत बाग़।

दोहिनी—दोहनशाला, जहां दूध दुहा जाता है।

खरिक—गोशाला।

कुलाहल—शोर।

गहि बाहीं—बाहु पकड़ कर।

मुकताहल—मोती।

सुरति—याद।

उमगत—प्रसन्न होता है।

अनगन भाँति—अनगिनत—बहुत प्रकार से।

परतिग्या—प्रतिज्ञा।

पाँय पियादे धायो—पाँव पियादा दौड़ता हूँ।

भीर—दुख, कष्ट।

मीरा

४९. नरहरि—नरसिंह (ईश्वर का एक रूप)

हरिनकस्यप—हिरण्यकश्यपु।

बूड़ते—डूबते।

म्हाँरी—मेरी।

अरजी—प्रार्थना।

पृष्ठ

काढ़ो—निकालो।
थाँरी—तुम्हारी।
सगोर—संबन्धी।
गरजी—ग़रज़मंद, स्वार्थी।
४७. विवस—विवश, बेबस।
धाओ—दौड़।
मन कुचाल—मन की खोटी चाल।
सवेरा—शीघ्र।
सदान—सदना एक कसाई भक्त।
भाखत—कहते हैं।
रावरी—तुम्हारी।
४८. स्थावर—वृक्ष लता गुल्म आदि।
जंगम—मनुष्य पशु पक्षी आदि।
बारे—अन्त में।
अजर—जरा बुढ़ापे से रहित।
अमर—मृत्यु से रहित।
बंदी—दासी।
संसा—संशय।
सोग—चिन्ता, शोक।
अष्ट करम—यम नियम आदि योग के आठ भेद।

पृष्ठ

तल्व—इच्छा, कामना।
नागर—चतुर।
४९. अपरवल—बलवान।
निरधाराँ—आधार से रहित।
मोच्छसमाज—मुक्ति रूपी सामग्री
पेज—लाज।
मंझार—बीच में।
मती—मत, न।
कूण—कौन।
हीया—हृदय।
बेरि बेरि—बार बार।
आरति—दुःख,।
विकार—पाप, बुराई।
पालि—बांध, मर्यादा।
बेरी—नाव, किश्ती।
पिव—पति।
बाट—रास्ता।
जोवै—खोजै, ढूँढे।
नेरी—समीप।
५०. भाल—माथा।
मकर—मगरमच्छ
टौना—जादू।

पृष्ठ

खंजन—एक चंचल पक्षी।

मृग-छौना—मृग का बच्चा।

सुग्रीव—सुन्दर गरदन।

विशेषा—सुन्दर।

दमन—दाँत।

दाडिम—अनार।

चपला—बिजली।

आवडे—बीतती।

धान—अन्न।

भावे—अच्छा लगना।

रैण—रात।

डगर—रास्ता।

जोय—ढूँढ कर।

५१. की—अथवा।

कमठ—कछुआ।

कादुर—मेंडक।

आली—सखी।

पात—पत्ता।

काठ—लकड़ी सा कठोर।

५२. रमैयो—राम।

छानी—छान कर, ढूँढ कर।

बजंता—बजा कर।

पृष्ठ

कारो—काला।

कौल—इकरार, वचन।

खेवटिया—खवैया, नावक।

५३. छोई—तुच्छ, छाछ।

परस—स्पर्श कर, छू कर।

त्रिविध ज्वाला—तीन प्रकार के ताप—आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक।

भैंख्यो—नापा।

श्रीभरण—शोभा-युक्त।

घरण—स्त्री।

कालीदि—कालिय नाग को।

मघवा—इन्द्र।

अगम—दुर्लंघनीय, संसार।

तरन—नाव।

अविनासी—नाश से हीन, अखण्ड, पूर्ण।

जेतइ—जितना कुछ।

धरन गगन बिच—पृथिवी आकाश में।

उठ जासी—उठ जाएगा, नाश हो जाएगा।

पृष्ठ

करवत—करवट, वास।

गरव—गर्व, गरूर, अभिमान।

चहर—रौनक, शोर गुल।

५४. भगवा—भगवे वस्त्र जोगिये वस्त्र।

जुगुति—युक्ति, योग आत्म-प्राप्ति का साधन।

अवला—बल से हीन, स्त्री।

जम की फाँसी—यम के बंधन

सीर—सिर।

रंग—प्रेम।

खत—लकीर, दाग़, पाप।

नटै—भागे, इनकार करे।

तनयन—पुत्र।

५५. कुण—को, से।

जंजार—जंजाल, दुख।

कइ—कितना।

तार—उपाय

कूकर—कुत्ता।

पृष्ठ

मोहि—मोह, ममता।

बिलार—बिल्ला।

घट—देह, शरीर।

छुधारत—भूख से पीड़ित।

टीला—शिखर।

मनिया—मनका, माला के मनके।

हितु—हितैषी, प्रेमी।

सागर—सम्पूर्ण।

विषम—कठोर।

५६. ओखी—कठिन।

बेड़ा—नाव, किश्ती।

ज्ञान चोसर—ज्ञानरूप चौसर।

चोहटे—चौक।

सुरत—स्मरण, ध्यान।

करम गति—भाग्य, तक़दीर।

सतबादी—सच बोलने वाला।

जग्य—यज्ञ।

बलि—असुरों का राजा।

तुलसीदास

६१. समुदाई—समूह।

नेह—स्नेह, प्रेम।

तियहि—स्त्री के लिये।

तरनि—सूर्य।

धाम—घर।

सुरराजू—देवताओं का राज्य, स्वर्ग।

समाज—सामग्री, सामान।

पृष्ठ

भारू—बोझा ।

कतहुँ—कहीं भी ।

जिअ—जी, प्राण ।

बारी—जल ।

पुरुष—पति ।

६२. सरद विमल विधुवदनु—शरद् काल के निर्मल चन्द्र की भांति मुख को ।

बलकल—वृक्षों की छाल ।

दुकूल—वस्त्र ।

सुरसदन—स्वर्ग ।

परनसाल—पत्तों की कुटिया ।

कुस-किसलय—कुशा और पत्ते ।

साथरी—चटाई, बिछौना ।

मंजु—सुन्दर ।

मनोज तुराई—कामदेव का बिछौना ।

अमिअ—अमृत ।

सौंध—प्रासाद, महल ।

सरिस—सदृश, समान ।

कोकी—चकवी ।

सुजान—बुद्धिमान ।

पृष्ठ

उर—हृदय ।

अवधि लगि—१४ वर्ष को मियाद तक ।

६३. हारी—थकावट ।

चरनसरोज—चरण रूपी कमल

पाय—पैर ।

पखारि—धोकर ।

तरु-छाहीं—वृक्ष की छाया में ।

बाउ—हवा ।

स्रमकन—थकावट से उत्पन्न पसीने की बूंदें ।

पेखें—देखने से ।

महि—पृथ्वी ।

डासी—बिछा कर ।

पलोटिहि—मुट्ठी चापी करूंगी ।

जोही—देख कर ।

बयारि—वायु ।

चितवनिहारा—देखने वाला ।

सिंघवधु—सिंह की स्त्री ।

ससक सिआरा—खरगोश और गीदड़ ।

पृष्ठ

मो कहँ—मेरे लिये।

बिलगान—फटे।

पाँवर—पामर, नीच।

धाई—दौड़ी।

मुरछित—बेहोश, अचेत।

अवनि—पृथिवी।

झंई—छाया, अन्धेरा, आंखों के सामने अंधेरा छाना।

विकल—व्याकुल, दुखी।

तनदसा बिसारी—देह की सुध बुध भुला दी।

६४. कत—क्यों।

माँझा—बीच, में।

जौं—यदि।

मोही—मुझ को।

कुलकलंकु—कुल के लिये कलंक-स्वरूप।

भाजन—पात्र, योग्य।

सरिस—सदृश, समान।

सुरपुर—स्वर्ग, देवस्थान।

केतू—पताका, श्रेष्ठ।

अनरथ—अनर्थ, बिगाड़।

पृष्ठ

हेतू—कारण।

वेनु—बांस।

दुसह-दाह—असहनीय जलन, ताप क्लेश।

मोचति—दूर करने लगी।

सुभाय—स्वभाव।

अतिहित—अत्यन्त प्यारा।

फिरि—लौट कर।

बहुरि—फिर।

लषन-लघु भाई—शत्रुघ्न।

सोकु—शोक।

सनेहु—प्रेम।

६५. बच्छु—वत्स, प्रिय (सं०)

परिहरहू—दूर करो।

हानि—हीनता, दुःख।

अघटित—जो कभी घटे नहीं, पूरी, अक्षय।

काहुहि—किसी को।

भा—हुआ

सब विधि—सब तरह से।

बाम—उल्टा, दुःखदायी।

एतेहु—इतने।

पृष्ठ

आयसु—आज्ञा ।

बसन—वस्त्र ।

बिसमउ—विषाद, दुःख ।

चीर—वृक्षों की छाल के वस्त्र ।

रंग—रंक, थोड़ा भी ।

रोषू—क्रोध ।

परितोषू—सन्तोष, प्रसन्नता ।

बिपिन—वन, जंगल ।

गइउँ—में गई ।

पठाए—भेजे ।

६६. सत-कुलिस—सौ वज्र ।

रनिवास—अंतःपुर, स्त्रियों का निवास स्थान ।

पानी—हाथ ।

अघ—पाप ।

गाइगोठ—गोशाला ।

महिसुर—ब्राह्मणों ।

मीत—मित्र ।

माहुर—विष, जहर ।

पातक, उपपातक—छोटे बड़े पाप ।

६७. गति—अवस्था, योनि, जन्म ।

पृष्ठ

पिसुन—चुगलखोर, ओट में निन्दा करने वाला ।

वेद-बिदूषक—वेद-निन्दक ।

परदारा—दूसरे की स्त्री ।

श्रुति-पंथ—वेदों का मार्ग, ज्ञान मार्ग ।

बाम-पथ—पाप मार्ग ।

बेषु—भेष, बाना ।

६८. हिमु—बर्फ

बारिचर—मेघ, बादल ।

बारिबिरागी—जल से रहित, जल से खाली ।

बरु—भले ही ।

सुगति—सुन्दर गति, अच्छी अवस्था ।

थनपय—स्तनों मे दूध ।

भावी—होनहार, भाग्य ।

बिलखि—रोकर ।

बिधि—विधाता, ब्रह्मा, भाग्य ।

केहि—किस को ।

सोचुजोगु—शोक-चिन्ता करने के योग्य ।

पृष्ठ

विप्र—ब्राह्मण ।

६९. बयसु—वैश्य ।

सुजानू—ज्ञानवान ।

विप्र-अवमानी—ब्राह्मण का तिरस्कार करने वाला ।

मुखरु—वाचाल, बहुत बोलने वाला ।

ग्यान गुमानी—ज्ञान का अभिमान रखने वाला ।

पतिबंचक—पति से धोखा देने वाली ।

कलह-प्रिय—झगड़ालू ।

इच्छाचारी—इच्छा के अनुसार, अपनी मरज़ी से चलने वाली ।

बटु—ब्रह्मचारी ।

आयसु—आज्ञा ।

गृही—गृहस्थी ।

पथ—मार्ग ।

प्रपंचरत—कपटी ।

विगत विवेक विराग—ज्ञान और वैराग्य से हीन ।

पृष्ठ

बैषानस—तपस्वी ।

बिहाई—छोड़ कर ।

भोगू—संसारी भोग-पदार्थ ।

पिसुन—चुगलखोर ।

पर-अपकारी—दूसरे के साथ बुराई करने वाला ।

कोसलराऊ—कोसल देश के राजा, दशरथ ।

भुवन चारि दस—चौदह लोक ।

न अहै—नहीं होता है ।

होनिहारा—होने वाला ।

जस—जैसा ।

७०. बिधि—ब्रह्मा ।

हर—महादेव, शिव ।

सुरपति—इन्द्र ।

दिसिनाथा—दिशाओं के स्वामी

सुअन—पुत्र ।

सुचि—पवित्र, सदाचारी ।

बड़भागी—बड़े भाग्य वाला ।

बादि—व्यर्थ फ़िज़ूल ।

बिषादु—चिन्ता ।

तेहि लागी—उसके लिये ।

पृष्ठ

परिहरहू—दूर करो

रजायसु—आज्ञा।

फुर—सफल, पूर्ण।

बिरहागी—विरह-वियोग की आग।

प्रवाना—प्रमाण, प्रतिष्ठित।

भूप-रजाई—राजा की आज्ञा।

अगयाँ—आज्ञा।

साखी—साक्षी, गवाह।

जजातिहि—ययाति राजा को।

अघ—पाप।

बयन—वचन।

भाजन—पात्र, योग्य।

अमरपति-अयन—इन्द्र का स्थान, स्वर्ग।

७१. अवसि—अवश्य।

परितोषू—प्रसन्नता, सन्तोष।

सुकृतु—पुण्य।

विदित—प्रसिद्ध।

संमत—अनुकूल विचार।

गलानी—घृणा, दुःख।

वैदेही—सीता, विदेह-राज जनक की पुत्री।

पृष्ठ

सुहाएँ—शोभा दें।

पथ्य—हितकारी, सुखदायक।

कालगति—भाग्य का फेर, दैव-योग।

७२. नरनाहू—राजा।

कदराहू—कातर, दुःखी।

परिजन—परिवार के लोग।

सचिव—मन्त्री।

अवलंबा—सहारा, आश्रय।

अनुसरहू—पीछे चलो।

अभिनन्दनु—प्रशंसा।

जनु—जैसे।

बहोरि—फिर।

रससानी—रस से भरी, मधुर।

लोचन सरोरुह—आँख रूपी कमल।

सींव—सीमा, हद।

धीर-धुरंधर—धैर्यशाली पुरुषों में श्रेष्ठ।

अमिअ—अमृत।

नीका—भला, अच्छा।

७३. मुदित—प्रसन्न।

पृष्ठ

पातक भारू—भारी पाप।
सिख—शिक्षा, उपदेश।
हौं—मैं।
परितोषु—सन्तोष।
अनुहरत—देख कर।
सिखावन—शिक्षा।
छमब—क्षमा करो।
कै—अथवा, या।
हरि लीन्हि—छीन ली।
कुटिलाई—कुटिलता।
आन—अन्य, और।
केहि लेखे—किस हिसाब में।
बसन—वस्त्र।
बिरति—वैराग्य।

७४. सरुज—रोग सहित।
जप-जोगा—मन्त्र पाठ और योग।
पहिं—पास, समीप।
आँक—पक्ष, भाग।
जड़ता—विवेक-शून्यता।
गत लाज—निर्लज्ज।
पतियाहू—विश्वास करो।
हठि—हठ से, जिद् करके।

पृष्ठ

रसा—पृथिवी।
रसातल—पाताल।
जेहि लगि—जिसके लिये।
गमनु—गमन, जाना।
अमरपुर—स्वर्ग।
सठ—शठ, नीच, धूर्त, ढीठ।
सचेतू—स्वस्थ, होश में।
बासू—निवास-स्थान, घर।
उपहासू—हंसी, निन्दा।

७५. पुनीत—पवित्र।
विषयरस रूखे—संसारी विषयों से दूर, निर्लेप, अनासक्त।
लोलुप—लोभी।
निदरि—तिरस्कृत कर, मात कर।
कुलिसु—वज्र।
कारजु—कार्य।
दोसु—दोष, बुराई।
कुलिस अस्थि तें—वज्र दधीचि की हड्डी से तैयार किया गया है किन्तु कठोरता में हड्डियों से बढ़ गया है।
उपल—पत्थर।

पृष्ठ

कैकेयीभव—कैकेयी से उत्पन्न भरत।

पावन—पवित्र।

अघाइ—अघाकर, जी भर कर।

पठै—भेजा।

काह—क्या।

जठर—उदर, पेट।

पांच—पंच, पंचायत।

७६ ग्रहग्रहीत—ग्रहों से पीड़ित।

बात-बस—वात रोग का रोगी।

बीछीमार—बिच्छू का काटा।

बारुनी—मदिरा, शराब।

क्वन—क्या कौन सा।

उपचार—उपाय, दवा, दारू।

बिरंचि—ब्रह्मा, विधाता।

नीका—अच्छी।

सुखेन—आराम से निश्चिन्त होकर।

जयारुचि—जैसा कुछ जी में आए।

सचराचर—जड़ और चेतन सहित जगत्।

पृष्ठ

लाहू—लाभ।

अदिन—कुदिन, दुर्भाग्य।

बिसेखि—विशेष, अधिक।

सुभाय—स्वभाव।

बिस्व—विश्व, जगत्।

बदर—बेर।

७७. परिहरि—छोड़कर, त्याग कर।

पोचू—नीच।

दवारी—आग।

जरनि—जलन, ताप।

बूझा—बूझने वाला, समझने वाला।

आँक—बात।

पाहीं—पास।

अनभल—बुरा, पापी।

उपाधी—बखेड़ा।

७८. सरन—शरण, आश्रय।

सकुचि—संकोच।

सुठि—सुष्ठु, सुन्दर।

अरिहुक—शत्रु का भी।

सिसु-सेवक—छोटा सेवक।

बामा—विपरीत, उल्टा।

आसिष—आशिष, आशीर्वाद।

पृष्ठ

जनु—जन, दास।

रिषि-वधू—ऋषि-पत्नी अनसूया

व्याज—बहाने से।

अमित—माप-तोल से बाहर, बहुत।

दानि—दानी, दानशील।

आपद-काल—दुःख के समय।

परिखियहि—परीक्षा किये जाते हैं।

७९. बधिर—सुनने की शक्ति से हीन, बहिरा।

यमपुर—नरक।

नेमा—नियम।

भव—संसार।

आन—अन्य, और।

निकृष्ट—नीच, धिक्कारने योग्य।

रति—प्रेम।

रौरव—भयानक।

कल्पसत—सैकड़ों युगों तक।

लागि—लिये।

८०. परम गति—उत्तम गति, मुक्ति।

तरुणाई—यौवन, जवानी।

पृष्ठ

सहज—स्वभाव।

श्रुति—वेद।

अगस्त्य—एक तारा का नाम जिस के उदय होने पर वर्षा समाप्त होजाती है।

सरित-सर—नदी-तालाब।

जिमि—जैसे।

सुकृत—पुण्य कर्म, भले काम।

८१. अबुध—मूर्ख।

परिहरि—त्याग कर।

सारदी—शरदकाल की।

आश्रम चारी—चारों आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास।

अगाधा—अगाध, अथाह, गंभीर।

मधुकर-निकर—भौंरों का समूह।

अनूपा—अनुपम, सुन्दर।

खगरव—पक्षियों का शोर।

चक्रवाक— चकवा-चकवी।

निसि—रात्रि।

पेखी—देख।

अति-ओही—अत्यन्त दुखी।

पृष्ठ

सरदातप—शरद ऋतु की धूप ।

८२. इन्दु—चन्द्रमा ।

मसक—मच्छर ।

दंस—डंगी ।

त्रासा—भय ।

द्विज द्रोह—ब्राह्मणों के साथ ठगी ।

संकुल—इकट्ठे, समूह ।

मति-अनुरूप—बुद्धि के अनुसार ।

तिष्ठै नहीं—ठहर नहीं सकता, जी नहीं सकता ।

नागर नर—चतुर पुरुष ।

अल्प—थोड़ा ।

भुवनेश्वर—त्रिलोकी के ईश्वर ।

कालहुं कर काला—काल के भी काल ।

अनामय—दुःख रोग आदि से रहित ।

अज—जन्म से रहित ।

अजित—जिन्हें कोई जीत नहीं सकता ।

व्यापक—सब जगह मौजूद ।

पृष्ठ

८३. गो—पृथिवी ।

द्विज—ब्राह्मण ।

जनरंजन—भक्त प्रिय, भक्तों को प्रसन्न करने वाले ।

भंजन खल व्राता—दुष्टों का नाश करने वाले ।

वयरु—वैर, शत्रुता ।

नाइअ—झुकाइये ।

प्रनतारति-भंजन—शरण में आए हुए के दुःखों को नाश करने वाला ।

विन हेतु—निष्काम रूप से किसी फल की चाह के बिना ।

कोसलाधीस—भगवान राम ।

पठई—पढ़ाई ।

रिपु-उतकरष—शत्रु की बड़ाई ।

८४. पुनि—फिर ।

निगम—वेद ।

नाना—अनेक ।

रिपु—शत्रु ।

निसिचर—राक्षस ।

पृष्ठ

दुलार—प्रेम, स्नेह ।

बुध—बुद्धिमान, विद्वान ।

रिसाई—क्रोध में आकर ।

मोर जियावा—मुझ से जिलाए जाने पर ।

पच्छ—पक्ष, तरफदारी ।

भावा—अच्छा लगता है ।

तपसिन्ह—तपस्वी ।

८५. प्रहारा—चोट ।

गहे—पकड़ लिये ।

उमा—पार्वती जी का नाम (सम्बोधन) भगवान शिव पार्वती जी को यह कथा सुना रहे हैं ।

मंद—बुराई, अपकार ।

निहारी—देखा ।

मनुज अनुहारी—मनुष्य का अनुकरण करके ।

कपि—वानर, महावीर, हनुमान

अनुज—छोटा भाई, लक्ष्मण ।

काऊ—क्यों ।

विपिन—वन, जंगल ।

पृष्ठ

आतपबाता—गरमी और आँधी।

जनत्यों—जानता ।

बंधु-बिछोहू—भाई का वियोग

ओहू—वह ।

८६. खग—पक्षी ।

फनि—सांप ।

करि—हाथी ।

कवन मुँह—किस मुँह से ।

छति—क्षति, हर्मान ।

अपलोकु—अपवाद, निन्दा ।

गाहि पानी—हाथ पकड़ कर ।

किन—क्यों न ।

राजिव-दल—कमल पत्र ।

अखंड—पूर्ण ।

निकर—समूह ।

जिमि—जैसे ।

बाम—बायां ।

उछाहु—आनन्द ।

मुनि मन-अगम—जो आनन्द मुनियों के मन में भी नहीं आ सकता ।

पुलकावली—पुलकित ।

पृष्ठ

८७. पुनीत वारि—पवित्र जल ।
पुरारि—पुर राक्षक के विनाशक भगवान शिव ।
त्रिपथ-गामिनी—गंगा आकाश पृथ्वी और पाताल तीनों लोकों में इसकी गति है ।
जोगीन्द्र—श्रेष्ठ योगी ।
पठावनी—पार ले जाने की मजूरी ।
तृनपनसाल—घास फूस की कुटिया ।
मंजुल—सुन्दर ।
विप्र—ब्राह्मण ।
कल्पबेलि—कल्पलता कल्पवृक्ष ।
सकोले—उल्लास के साथ ।
एहैं—आए हैं ।
जिय—हृदय ।
लहि—प्राप्त करके ।
लाहु—लाभ ।
अघाइ—प्रसन्न होकर ।

८८. अमियहु—अमृत से ।
अवलोकत अनुकूल—देखने में

पृष्ठ

आंखों को सुन्दर लगने वाले ।
अम्ब—माता ।
डिंभ—छोटा बालक, बच्चा ।
सानिकै—भरा हुआ ।
प्रेमपन—प्रेम की प्रतिज्ञा ।
बिधि—विधाता (सम्बोधन) ।
कधौं—अथवा, या ।
सति साउ—सच्ची बात ।
अघहरन—पाप को दूर करने वाले ।
लघु-भाग-भाजन—भाग्य के छोटे पात्र में ।
उदधि—समुद्र ।
उमग्यो—उमगा, उमड़ आया
सानुज—छोटे भाई के साथ ।
भाय—प्रेम ।
पाँवड़े—पाँव झाड़ने का वस्त्र, पायंदाज ।
सुअरब—हाथ धोने का सुन्दर जल ।
पंकज पाँय—चरण कमल ।
पखारि—धोकर ।

पृष्ठ

पंथस्रम—रास्ते की थकावट ।

आदर जनु जये—मानो आदर से जीते गये ।

सुमन—फूल ।

सुर—देवता ।

सिहात—रोमांचित होने लगे ।

केहि रुचि—किस फल की रुचि है ।

भोगी जाग के—यज्ञ भाग के अधिकारी ।

८९. अमल—निर्मल ।

अनुराग—निर्मल प्रेम ।

अँचइ—आचमन ।

पूरई—पूरा हुआ ।

तापस—निस्सहाय, वेचारा ।

किरातिनि—भीलनी ।

कोल—भील ।

आयसु—आज्ञा ।

परमनिधि पाले परी—बड़ा भारी खजाना मिल गया ।

प्रदच्छिना—प्रदक्षिणा, परिक्रमा ।

रामधाम—वैकुण्ठ धाम ।

पृष्ठ

जल अंजलि—जलांजलि, तर्पण करना ।

प्रनति—विनय, भक्ति ।

अनुसासन—अनुशासन, आज्ञा ।

चैल—वस्त्र ।

आनि—लाकर ।

व्यालावलि—सांपों की पंक्ति ।

महि—पृथिवी ।

बिबुध बैद—देवताओं के वैद्य, अश्विनीकुमार ।

बरबस—बलपूर्वक, जबरदस्ती ।

अनुग—अनुगामी, सेवक ।

मीच—मौत ।

मूषक—चूहा ।

नेकु—जरा भी ।

९०. लोहे—शस्त्र ।

सुभट—सुयोधा, सुवीर ।

सुवन—पुत्र ।

हुल्सत—आनन्दित, प्रसन्न ।

सुभाय—स्वभाव, सदृश ।

अंब के अंबक—आम के सदृश नेत्र ।

पृष्ठ

अंबु—जल।

रिपुसूदन—शत्रुओं का नाश करने वाले, शत्रुघ्न।

प्रमुदित—प्रसन्न।

लीन-विषय—विषयों में आसक्त।

हेतु रहित—कामना रहित, निःस्वार्थ, निष्काम।

वेनु—बांस।

करील—डेले का वृक्ष।

श्रीखण्ड—कपूर।

मृषा—झूठमूठ व्यर्थ।

सुरभि—गाय।

मोह-शृंखला—मोह की रस्सी, अज्ञान का बन्धन।

छुटिहि तुम्हारे छोरे—तुम्हारे छुड़ाने से ही छूटेंगे।

६१. अनुग्रह—कृपा।

साधन-धाम—धर्म की साधना के आधार।

विबुध—देवता।

विषय बारि—पदार्थों की कामना रूपी जल।

पृष्ठ

दारुन—कठोर।

बंसी-पद-अंकुस—बांसुरी का शब्द रूपी कोड़ा।

प्रेम-मृदु-चारो—प्रेम रूपी कोमल चारा—घास आदि भोजन।

विधि बेधि—इस तरह से बेध कर—नाथ कर।

कौतुक—तमाशा, खेल।

स्रुति—श्रुति, वेद।

निहोरें—अनुरोध प्रार्थना करे।

मोह-रज—मोह रूपी रस्सी, अज्ञान रूपी बन्धन।

जोइ बाँध्यो सोइ छोरे—जिसने बाँधा है वही छोड़े।

पुरुषारथ—जीवन का ध्येय, परम-उद्देश्य।

थाको—समाप्त हुआ।

बिपति-बँटावन—दुःख में भाग लेने वाले, सहायक।

समर—युद्ध।

पृष्ठ

साखामृग—वानर, बन्दर।

अनुज-सँघाती – छोटे भाई का घातक।

जीह-देहरी—जिह्वा रूपी देहलीज

उजियार—उजाला, प्रकाश।

६२. आस—आशा।

बारिद – बादल।

गहि—पकड़ कर।

निरस—रस-प्रेम से हीन।

रूखे विषय रस—विषय रस से निर्लिप्त।

चिकने रामस्नेह—राम के स्नेह—प्रेम में भीगे हुए।

ठौर—स्थान, आश्रम।

विंध—विन्ध्याचल।

सायर—समुद्र।

उपास—उपवास, फाका।

विपच्छ—विपक्षी, विरोधी।

अनुभव—ज्ञान।

समता—समभाव, प्रेम।

दूवरी—दुबली, कमजोर।

पीन—मोटा, पुष्ट।

पृष्ठ

रिनिया – ऋणी, उधार खाए हुए।

राम पद—भगवान राम के चरणों की सेवा।

६३. द्रवहिं न—पिघलते नहीं, दयार्द्र नहीं होते।

सूधी—सरल सीधा।

करतूति—काम।

विधि – नियम, व्यवहार।

राकेस—रात्रि का स्वामी, चन्द्रमा।

सरिस—सरस, मधुर।

कुमुद—लाल फूल, जो चन्द्रमा के उदय होने पर खिल उठता है।

सूर—शूरवीर।

कोविद—विद्वान।

विडंबना—तिरस्कार।

अवसर कौड़ी—कौड़ी के देते समय।

चुकै—चूके, भूल करे।

दुइज—दूज तिथि का।

भरिपाख—पक्ष भर।

कृसानु—अग्नि।

दानि—देनेवाला, हित करनेवाला।

पृष्ठ

न बसात—दुर्गन्ध नहीं आती, बू नहीं आती।

लहसुनहू—लशुन, थूम।

सुलच्छन लोग—सुन्दर आचार वाले लोग, बुद्धिमान लोग।

सियाही—काले।

दार—स्त्री।

पर-अपवाद—दूसरे की निन्दा।

पांवर—पामर, नीच।

मनुजाद—मनुष्य।

६४. सारदूल—सिंह।

कूकर—कुत्ता।

कीरति विजय-विभूति—यश और विजय की श्री-शोभा।

जूझे तो भल बूझिबो—लड़ने से समझ लेना (मेल करना) अच्छा है

डहके ते डहकाइयो—धोखा देने से धोखा खाना अच्छा है।

कुफेर-सुफेर—अच्छा और बुरा परिणाम।

समर—युद्ध।

प्रलाप—रुदन, हाय हाय।

पृष्ठ

अनहित—(अपनी) बुराई का डर।

चारु—सुन्दर।

समरथ—समर्थ, शक्तिशाली।

सुकृती—पुण्यवान्।

दीरघ रोगी—लम्बा रोगी, चिरकालिक रोगी, बहुत देर का रोगी।

कटुवच—कटुवादी, कड़वा बोलने वाला।

बिनु काज—अकारण।

कुचालि—खोटी चाल।

कुसाज—पाप का उद्योग, खोटी तदबीर।

चपरि—चपलता से, तेजी से।

पितु-बैन—पिता के वचन।

भाजन सुख—सुख के पात्र।

अमरपति-ऐन—इन्द्र का स्थान, स्वर्ग।

६५. तृन जल कूल को—नदी के किनारे की घास।

पृष्ठ

दादुर—मेंडक ।

सुअम्ब—सुन्दर आम ।

पाहन—पाषाण, पत्थर ।

सिखि—शिक्षा ।

पृष्ठ

थिरताइ—स्थिरता ।

लरिकाई—लड़कपन ।

छांह ज्यों—छाया की तरह ।

गुड़ी—पतंग ।

महि—पृथिवी पर ।

रहीम

९९. दसा—अवस्था ।

को—कौन ।

सीस—सिर ।

केहि काज—किस लिए ।

रज—धूलि ।

मुनिपत्नी—गौतम मुनि की पत्नी, अहल्या । जो अपने पति के शाप से पत्थर हो गई थी और श्री राम के चरणों के स्पर्श से उस का उद्धार हुआ था ।

गजराज—हाथी ।

धनि—धन्य ।

सुदामा—एक दरिद्र ब्राह्मण कुमार, कृष्ण का सखा ।

बापुरो—बेचारा ।

मिताई जोग—मित्रता के योग्य

भावी—होनहार ।

काहू ना दहो—किस को नहीं जलाया ।

दहो—जलाया ।

कतौं—कहीं ।

सीय—सीता ।

संतत—सदैव ।

सुधि—खबर ।

लखत है—देखत है ।

विषया—विषय, भोग विलास ।

लपटात—लिपटता है ।

वमन—उल्टी, कै ।

स्वान—कुत्ता ।

१००. पद—पदवी, प्रतिष्ठा ।

पृष्ठ

पैग—पग, कदम ।

बावनै—बौना [विष्णु भगवान् वामन का स्वरूप धारण कर दानवराज बलि से केवल ३ पग भूमि का दान लेने गये थे । बलि के दान दे देने पर भगवान् ने अपना विराट स्वरूप धारण कर दो ही पगों में सारी पृथ्वी नाप ली । अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए दानवराज ने तीसरे पग नापने के लिए अपना शरीर ही अर्पण किया । इतना करने पर भी भगवान् का नाम वामन (बौना) ही रहा ।

सुचहिं—जमा करते हैं ।

सुजानि—भले मनुष्य, सज्जन ।

दूषन काढ़ि—दोष निकाल कर ।

दूबरो—दुबला ।

कूबरो—कुबड़ा ।

नखत—नक्षत्र, तारा ।

बाढ़ि—बढ़ा ।

पृष्ठ

दीबो—दान देने की सामर्थ्य।

दरिद्रतर—अत्यन्त निर्धन ।

जाँचिबे जोग—मांगने योग्य।

कानि—मर्यादा ।

गहि—ग्रहण करना ।

अतिसै—अतिशय, अत्यधिक।

सहिजनौ—एक विशेष वृक्ष ।

हहरि कै—घबड़ा कर ।

निभै—गुजारा हो ।

केरु—केला ।

१०१. तप्यौ—तपने पर, उदय होने पर।

तरैयन—तारा गण ।

रीते—खाली ।

अनरीते—अनीती, अन्याय ।

बारे—बालकपन में, जलाने से।

बढ़े—बड़े होने पर, बुझाने से ।

सहसन—सहस्रों, हजारों ।

हय—घोड़े ।

मेख—कील ।

जिय—जीव ।

गुन—गुण, रस्सी ।

१०२. दारा—स्त्री ।

पृष्ठ

गाढ़े दिन—विपत्ति के दिन।

अगुनी—गुण से हीन पुरुष।

अगुन—दुर्गुण, दोष।

हित-अनहित—भला-बुरा

परोस—पड़ोस।

मामिला—मुक़दमा, मुसीबत।

घटि लखै—थोड़ा देखता है।

उलूक—उल्लू।

पूतरा—पुतला, पतंग।

सहजाहि—स्वभाव से।

बाइ—वायु, पवन।

बिगरी—बिगड़ी।

महो—छाँछ, तक्र।

बिलगाइ—अलग अलग हो जाते हैं।

भीर परै—मुशकिल पड़ने पर।

पृष्ठ

ठहराइ—पास ठहरता है, सहायता करता है।

गोय—छिपा रखो।

१०३. जोखिता—स्त्री।

बरु—अच्छा।

असन—भोजन, खाना।

तोइ—जल।

अनखाये—खाए बिना।

अनखाइ—क्रोध करे।

घरिया—घड़िया।

भेषज—औषधि, दवा-दारू।

१०४. करिया बासन—काला वस्त्र।

कारिखा—कालख।

दीन चहै—देना चाहे।

मर्कट—बानर।

१०५. साहिबी—बड़प्पन, स्वामीपन।

बिहारीलाल

१०९. भवबाधा—संसार की बाधा।

नागरि—नागरी युवती, चतुर।

झाँई—परछाई, छाया, कान्ति।

दुति—द्युति, कान्ति।

जोय—देखो।

सुचित अन्तर—निर्मल हृदय में।

सलोने—सुन्दर, नमकीन।

११०. हुल्सो—प्रसन्नता से भरा।

पोत—ढंग, तौर।

सरत—पूरा होता है।

पृष्ठ

दमामो—दमामा, ढोल ।

कोटि—करोड़ ।

लटुवा—लट्टू ।

गुनी—गुणयुक्त, डोरी से लिपटा हुआ ।

दंद—द्वन्द्व, झगड़ा ।

मावस—अमावस्या की रात्रि । अमावस्या की राति को सूर्य और चन्द्रमा एक ही राशि पर होते हैं । दोनों प्रकाश के उत्पादक हैं, किन्तु इतने पर भी एक साथ रहने के कारण रात घोर काली हो जाती है ।

निसक—निशक्त, शक्तिहीन ।

बिरद—स्तुति, प्रशंसा ।

कनक—सोना, धतूरा ।

अर्क तरु—आक का पौधा ।

अर्क—सूर्य ।

उदोत—उद्योत, प्रकाश ।

तारि दै—ताली बजा कर ।

नागरता—चातुरी ।

पृष्ठ

१११. नल-नीर—नल का पानी ।

चटक—प्रेम ।

रज—धूल ।

राजस—धन, सम्पत्ति ।

नेह—(१) स्नेह, प्रेम (२) तेल ।

नीत—नीति ।

गलीतहै—अत्यन्त दुःख सह कर ।

परेखो—परीक्षा ।

खरे बढ़े पर—पूर्ण वृद्धि पर ।

पारि—मर्यादा बांध ।

कनक—(१) गेहूं (२) सोना ।

बौरात है—बावला हो जाता है ।

खरो—बहुत ।

सकात—डरता है ।

निकलंक—कलंक से रहित ।

मयंक—चन्द्रमा ।

हंस—(१) पक्षी (२) साधु पुरुष ।

कागनि—कौवे ।

दई बिड़ारि—भगा दी ।

दई—दैव, विधाता ।

डारन—डाली ।

गँवई—देहात में ।

पृष्ठ

कुरंग—हरिण ।

सुरझि—सुलझ कर, बच कर ।

उरझत जात—उलझता जाता है।

११२. सराध-पख—श्राद्ध-पक्ष ।

सुवा—सुग्गा, तोता ।

वायस—कौवा ।

वलि की वेर—बली देती वार

निदाघ—गरमी में ।

डहडहो—हरा-भरा ।

ऋतुराज—वसन्त ऋतु ।

अपत—पत्तों से हीन ।

मूर—जड़, बिलकुल ।

पीनसवारे—पीनस रोग का रोगी, सूंघने की शक्ति से हीन ।

सोरा—शोरा ।

लहियत—प्राप्त करते हैं ।

ओद—एक छोटी जाति के लोग ।

सरै न—सिद्ध नहीं होता ।

कांचे—कच्चा ।

रांचै—रीझते हैं ।

पृष्ठ

नाँठि—मुश्किल से ।

११३. बिकट जटे—मज़बूती से बन्द ।

निपट—पूर्णरूप से ।

कपाट—किवाड़ ।

भज्यो—भागे, दूर रहे ।

भज्यो न—भजन नहीं किया ।

निर्गुन—(१) गुण रहित (२) बिना तागा का ।

चंग-रंग—पतंग की भांति ।

जात-जात वित—धन के जाते समय ।

मोष—मुक्ति, मोक्ष ।

अनाकनी—आनाकानी ।

गुहारि—पुकार, प्रार्थना

वारक—एक ही बार ।

वारन—हाथी ।

दई दई—हा दैव ! हा दैव !

जगवाय—संसार की हवा ।

चसमा—चश्मा, ऐनक ।

चखन—आंखों पर ।

वृन्द

पृष्ठ

दल—पत्ते ।

सबलन—बलवान, शक्तिशाली ।

विषे—अन्दर ।

दाध्यो—जला हुआ ।

छीलर ताल—उथला तालाब जिसमें पानी कम हो ।

कटुवे भेषज—कड़वी औषधि ।

ताप—ज्वर, बुखार ।

११७. तूठे कवन—कौन प्रसन्न हो ?

वनदव—दावानल वन की आग।

नलिन—कमल फूल ।

परिचै—परिचय, मेल-मिलाप ।

अरुचि—असन्तोष, अप्रसन्नता ।

भाय—भाव ।

काक पिक—कौवा और कोयल।

काजर—कजल, काला ।

सेत—सफेद ।

कूप-भेक—कुएं का मेंडक ।

सम—सीधा, साफ ।

विषम—ऊंचा-नीचा ।

थल—स्थल, भूमि ।

सरस—हरे-भरे, रसीले ।

पृष्ठ

११८. चुम्बक—लोहे को अपनी ओर खींचने वाला पत्थर ।

पतन—गिरावट, अवनति ।

निदान—अन्त, परिणाम ।

मध्याह्न—दोपहर ।

सुरा—मद्य, शराब ।

अहीरी—दूध बेचने वाला ।

विभौ—विभव, सामर्थ्य ।

सुरभित—सुगन्धित ।

कुठार—कुल्हाड़ा ।

सधै—सिद्ध हो, पूर्ण हो ।

कारी—काली ।

करी—हाथी ।

संसर्ग—संग, साथ ।

लहत—पाते हैं ।

जलेश—जलका ईश, समुद्र ।

रिस—क्रोध ।

हरि—सिंह ।

हुंकरै—हुंकार करता है ।

स्यार—गीदड़ ।

कन—दाना ।

निबरै—समाप्त हो जाता है ।

पृष्ठ

तोय—जल।

देवल—देवस्थान, मन्दिर।

वायस—कौवा।

११६. उमहै—उमंग के साथ, चाह से।

गहैं—पकड़ते हैं।

पय—दूध।

पयोधर—स्तन।

सुरनाह—सुरनाथ, इन्द्र।

मोद—प्रसन्नता, खुशी।

उनयो—उमड़ते देख कर।

पयोद—बादल।

अहेत—शत्रुता।

अपावन—अपवित्र।

ढिग—समीप, पास।

भौन—भवन, स्थान, घर।

बधिर—बहरा।

श्रौन—श्रोत्र, कान।

१२०. गुनवारो—गुणवान पुरुष।

गुनयुत—रस्सी से बंधा हुआ।

कदली—केले का वृक्ष।

पृष्ठ

दिनेश—सूर्य।

तिमिर—अन्धेरा।

नेक—थोड़ा भी।

पोष—पोषण से, पालन से।

अंबर-डंबर—आकाश की लाली।

बारू—बालू, रेत।

भीति—दीवाल।

जोय—जन्म पाता है।

१२१. मिलै—मिल कर।

जनाय—पहचान कराता है।

ऊख—गन्ना।

बैन—वचन, बात।

तमचुर—मुर्गा।

गत रैन—रात बीतने पर।

नारदी—नारद मुनि की सी।

पैस—प्रवेश करो।

भुँसि—भौंकना।

मृगराज—सिंह, शेर।

अमली—इमली, आम।

आकू—आक, कड़वी वस्तु।

बिलायँ—नष्ट हो जाते हैं।

गिरधर कविराय

पृष्ठ

१२४. साइं—स्वामी, (सम्बोधन)

द्वन्द—कष्ट।

डोम—नीच, चाण्डाल।

१२५. डोलत—फिरता घूमता है।

पाहुन—मेहमान, अतिथि।

दावागीर—दावा करने वाला, अपना अधिकार जमाने वाला।

मस्तक झारै—माथा पीटे, नीचा दिखाये।

१२६. धूर के बाठी—धूल पर चलने वाले, पथिक।

धुँधवाय—धुआं देती है।

ठट्ठी—पंजर।

मिन्ता—मित्र।

लहै—ले, आदर करे।

झरि—झड़ी, बादल, वर्षा।

१२७. अछत—रहते हुए।

कमरी—कम्बल।

पृष्ठ

बाफता—रेशमी वस्त्र।

बुँद जहं— जहां वर्षा हो।

आड़े आवे—सहायता दे।

बकुचा—छोटी गठरी।

मोट—गठरी।

झारि—झाड़ कर।

तातो—गरम, गर्वित, अभिमानी।

सियरे—ठंडे होकर, चुप हो कर।

१२८. कृतघन—कृतघ्न।

सर्वस—सर्वस्व, सब कुछ।

काम काढ़ि—मतलब निकाल कर

बोल अनबोले—चुप चाप।

हहाय—अहा! अहा! कर के।

आतुर—दुःखी, दीन।

अनखैहैं—क्रोध करता है।

बहुरि—बहुत, फिर।

पौरि—ड्योढ़ी, द्वार, फाटक।

तकि—देख कर।

हरिश्चन्द्र

पृष्ठ

१३१. काल गुदरिया सीएं—काल रूपी गुदड़ी को सियें, व्यर्थ काल विताएं।

वादहिं—व्यर्थ ही।

सिरानी—समाप्त की।

विहानी—विता दी।

महानी—महान, वहुत।

माया-मन्दिर—संसार।

१३२. करन—करण, इन्द्रियाँ।

साका—शासन,राज्य,अधिकार।

छाका—छका हुआ, मस्त।

ऐहैं—आएंगे।

थापि मरजाद—मर्यादा स्थापित कर के।

अनन्य—अनन्य रूप से, सब सम्बन्ध नाते छोड़ कर।

गाथ—गाथा, कथा, वात।

१३३. साखी—साक्षी।

वासना—कामना, इच्छा।

वीय—वीज।

निह-किंचन—अकिंचन,अनाथ।

पृष्ठ

वैस—वयस, आयु।

वाई—मुँह फैला कर।

१३४. पुजयो—पूरा हुआ।

जवनन—मुसलमानों को।

आरज—आर्य लोग।

नसे—नष्ट हो गए।

गर—गला।

विक्रम पारैं—वल का अभिमान करें।

रसना—जिह्वा, वाणी।

जुड़ानी—सुखी होती।

वच टेका—वचन की टेक।

१३५. हेरी—देखी गई।

कपाल-क्रिया—जलते शव की खोपड़ी को वांस आदि से फोड़ने की क्रिया।

दृगकोर—आंख का कोना।

सुभग—सुन्दर।

साने—भरे हुए।

१३६. तरनि-तनूजा—सूर्य की पुत्री, यमुना।

पृष्ठ

परसन—छूना।

मुकुर—शीशा।

नै रहे—झुक रहे।

सैवालन—काई, जल की घास।

पांतिन—पंक्ति, कतार।

अनगिन गोभा—असंख्य अंकुर।

पीय—पति।

उपचार—सामग्री।

भृङ्गन—भौंरे।

मिस—बहाना।

तियगन—स्त्री गण।

कमला—लक्ष्मी।

बगरे—बिखरे, फैले हुए।

सतधा—सौ तरह से।

१३७. राका—पूर्णिमा तिथि।

ओभा—आभा, कान्ति, रौनक।

पृष्ठ

रास रमन मैं—रासलीला करने में।

दुरि—दूर।

पवन गवन बस—पवन के चलने से।

हिंडोरन—हिंडोला।

बाल गुड़ी—छोटी गुडी, पतंग।

अवगाहत—स्नान करती हुई।

प्रतच्छ—प्रत्यक्ष, प्रकट।

अविकल—पूर्ण।

कालिन्दी—यमुना।

१३८. रजत—चांदी।

मल्ल—योधा, पहल्वान।

कलहंस—सुन्दर हंस।

पारावत—कबूतर।

कारंडव—सारस।

रोर—शोर।

श्रीधर पाठक

१४१. भव्य—सुन्दर।

व्योम—आकाश।

संप्रदान—देना।

अक्षयवट—प्रलय में भी न नष्ट होने वाला वट वृक्ष।

अभिनव प्रवाल—नया अंकुर।

रसाल—आम।

तन्त्री—वीणा।

मृणाल—कमल डंडी।

ह्रद—तालाब।

पृष्ठ

मराल—हंस ।

१४२. भारति—सरस्वती ।

मंदार—कल्पवृक्ष ।

भूषा—पहरावा ।

अभिनिवेश—प्रवेश ।

समभिनंद्य—पूजनीय ।

१४३. कल्लोलिनी—तरंग वाली ।

१४४. अमी—अमृत ।

वितान—शामियाना ।

लिहसा—लिपटा हुआ ।

सद्य—तुरन्त ।

दिङ्नारि—दिशा रूपी स्त्री

प्रहित भेजा हुआ ।

१४५. बैलून—हवाई जहाज ।

अनति—थोड़ा ।

१४६. आर्ति—दुःख ।

पीठ थल—विद्या-केन्द्र, स्थान ।

सारदा सवनि—सरस्वती को उत्पन्न करने वाली ।

प्रथित—प्रसिद्ध ।

अभिराम—सुन्दर ।

स्वर्ग सहोदरि—स्वर्ग की बहिन।

पृष्ठ

कोविद—विद्वान ।

१४७. सुठि—सुन्दर ।

चित्तर-सारी—चित्रशाला ।

ललकत—चहल पहल करती है।

डसति—(हृदय) खींचती हुई।

किंकरता—दासता ।

मौलि—मस्तक, माथा, सिर।

१४८. तुहिन—बर्फ ।

अलबेली—सुन्दर ।

सेली—पगड़ी ।

ओक—स्थान ।

पुरन्दर—इन्द्र ।

सहसन—सहसा, अचानक ।

सहसानन—शेषनाग ।

१४९. एनु—स्थान ।

सुकेलि—सुन्दर लीला ।

साल—एक वृक्ष ।

रावरो—शब्द करता हुआ ।

अभग्न—पूर्ण ।

विभ्रम—विलास ।

१५०. कलत्र—स्त्री, पत्नी ।

सत्ता—अस्तित्व, हस्ती ।

प्रतियोगी—शत्रु ।

नाथूराम शङ्कर

पृष्ठ

१५४. आतप-वात—धूप और आँधी।
झावर—छप्पर, जोहड़।
कांदा—कीचड़, कीच।
सांत—चैन
सुमन विकाश—फूलों का खिलना
१५५. भूभल—गरम रेत।
झाखर—कांटेदार झाड़ियां।
चञ्चला—बिजली।
स्वेद—पसीना।
१५६. फजारे—जला दे।
हुताशन—आग।
घमस—गरमी।
आराम—बाग़ बाग़ीचे।
ब्यार—वायु।
१५७. वृषारूढ़—वृष राशि के सूर्य।
रस—शरबत।

पृष्ठ

खलियान—कटे हुए अनाज का ढेर।
दाँय चलाना—अनाज को भूसी से जुदा करने के लिये बैलों से रुंदवाना।
१५८. बायलर—इञ्जन में अग्नि का स्थान।
बलाहक—मेघ, बादल।
१५९. प्रतिवाद-प्रगल्भ—बहस में चतुर।
१६०. मनोमुख—अपनी मानने वाले।
लबार—बातूनी, गप्पी।
१६१. भगोड़—भगोड़ा, भागने वाला।
पोच—नीच।
प्रण रोप—बाजी लगा कर।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

१६५. अजिर—आंगन, सेहन।
उलहती—लहलहाती।
१६६. किंकणी—तड़ागी।

क्वणित—शब्द देती हुई।
कलित—सुन्दर।
कल्वादिता—मीठी झंकार।

पृष्ठ

१६७. मालिका—पंक्ति ।

घहरता—शब्द करता हुआ ।

छिति—भूमि ।

अंशु—किरण ।

फणिनी—सर्पिणी ।

सुप्लावित—अच्छी तरह से धुली ।

१६८. समीर—वायु ।

पृष्ठ

उपकारिता—उपयोगिता, लाभ ।

१६९. जीवट—साहस, जिगरा ।

१७१. पेट के हलके—चुगलखोर ।

पूततम—बहुत पवित्र ।

१७३. महनीय—पूज्य ।

१७४. अनादृत—तिरस्कृत ।

मैथिलीशरण गुप्त

१८०. प्रज्ञा-पगे—बुद्धि पूर्ण ।

सान्त्वना—ढाड़स, शान्ति दान ।

परन्तप—शत्रुनाशक ।

दुर्द्धर्ष—कठिन ।

१८७. मानधन—पति ।

१९५. अभीप्सित—चाही गई बात ।

वैधव्यतुषारावृता यथा विधुलेखा-विधवापन रूपी ओस से ढकी हुई चाँद की ज्योति ।

१९६. अनुताप—पश्चात्ताप ।

नीरव—चुपचाप, शब्द रहित ।

उल्का—पुच्छल तारा, अनिष्ट का हेतु ।

१९८. वैतरणी—एक नदी का नाम ।

वरुणा—नदी का नाम ।

कुलिश—वज्र ।

१९९. पंकिला—कीचड़ से मिली, कलङ्किणी ।

पद्मकोष—कमल की उत्पादक ।

अब्द—वर्ष, साल ।

२००. वीचि—लहर ।

ह्रास—अवनति, गिरावट ।

२०१. प्रहरी—पहरेदार ।

२०२. खग्रास—पूर्ण ग्रहण ।

बिलावे—छिप जाए ।

माखनलाल चतुर्वेदी

पृष्ठ

२०८. क्षुद्रता—नीचता ।

पिशाची—चुड़ेल ।

कीट—कीड़ा ।

टकसाल—सिक्के ढालने का स्थान, करेंसी ।

२०९. पीयूष—अमृत ।

२१०. सुर-बाला देव कन्या ।

२११. हांतल—हृदय स्थान ।

काकलि—राग ।

आराध्य—पूजा के योग्य ।

मोदक—लड्डू ।

पृष्ठ

२१२. तुषार—हिम, बर्फ ।

कुम्भीपाक—नरक विशेष ।

जोहा—ढूंढा ।

२१४. केन—बैत ।

चेन—जंजीर ।

डेली—दैनिक, रोजाना ।

मेड इन हिन्दुस्तान—हिंदुस्तान में बनी हुई ।

२१५. कृपि—खेती बाड़ी ।

पार्थ-पुत्र—अभिमन्यु ।

रामनरेश त्रिपाठी

२१८. अन्वेषण—खोज ।

२२०. अविरल मेधा—पूर्ण बुद्धि ।

२२१. जघन्य—नीच, घृणा के योग्य ।

अकिंचन—अनाथ, बेचारा ।

२२२. जगन्नियन्ता—जगत का नियमन करने वाला ।

रूपक—नाटक ।

उद्भव—उत्पत्ति ।

कक्षा—कतार, श्रेणी ।

केतु—तारा ।

प्रगति—उन्नति ।

२२३. उऋण—ऋण से मुक्त ।

प्रवास—विदेश ।

अनुप्रास—वर्णों की समानावृत्ति

२२४. वकुल—एक वृक्ष विशेष ।

केका—मोर ।

पृष्ठ

२२६. सायक—बाण ।

२२७. पुरुष पुंगव—पुरुष श्रेष्ठ, उत्तम

विटप—वृक्ष ।

सस्य—अन्न, धान्य ।

पृष्ठ

२३०. निमिषमात्र में—पलक झपकने की देर में, बहुत जल्दी ।

२३१. आतुर—उतावले ।

२३२. कुत्सित—घृण्य, दुष्ट ।

वियोगी हरि

२३६. टेक—मान-मर्यादा ।

प्रसून—फूल ।

२४०. परिधान—वस्त्र, पहरावा ।

परता—पराधीनता ।

असन वसन—खाना बाना ।

२४१. जगपूत—जगत का पवित्र कर्ता

अन्त्यज—शूद्र, अछूत ।

असिव—कल्याण रहित ।

२४२. निकेत—घर ।

पोत—जहाज ।

अनय—अन्याय ।

२४३. कादर—कायर, डरपोक ।

सद्य—तुरन्त ।

डहडही—धोखा ।

ससि सूर—चाँद और सूर्य ।

२४४. खेत—युद्ध की भूमि ।

मेंड—सीमा, हद्द ।

मतिकूर—अन्धमति, बुद्धिहीन ।

औघट—बहुत कठिन ।

जयशंकर प्रसाद

२५०. अहमिति—अहंकार ।

द्वन्द्व—द्वैत-भाव ।

श्यामा—कोयल ।

२५१. दुर्दिन—वर्षाकाल ।

नील निलय—नीलाकाश ।

२५२. शलभ पुंज—पतगों का समूह

अनल शिखा—अग्नि की लपट ।

२५३. अनंग—कामदेव ।

नश्वरता—नाशशीलता, मृत्यु ।

मधुशाला—शराब की दूकान ।

अलक—घुंघराले बाल ।

लालच—उत्कट इच्छा ।

२५४. मधुबाला—मदिरा रूपी बाला

मरुमरीचिका—मरुस्थल में होने

पृष्ठ

वाली व्यर्थ पानी की इच्छा ।

कुरंग—हरिण ।

निषंग—तरकस ।

अभिनय—नाटक ।

२५५. ऊषा—प्रातःकाल की लाली ।

पिङ्गल—पीले रंग की ।

कलरव—मीठा शब्द ।

पृष्ठ

अगजग—स्थावर जंगम ।

सिकता—रेत ।

२५६. नियति—भाग्य, दैव ।

एषणा—इच्छा ।

कशाघात—चाबुक की चोट ।

घोषणा—मुनादी, डौंडी ।

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला ।

२६६. लकुटिया—लाठी ।

२६७. कलुष—काला ।

मन्द्र—गंभीर ।

२६८. धौत—धोई हुई ।

अपलक—पलक झपके बिना ।

शतदल— कमल ।

क्लेद—दुःख ।

सुमित्रानन्दन पन्त

२७३. स्मिति—मुसकान ।

जटिल—अड़ी हुई, घनी ।

२७४. स्पन्दन—गति ।

२७६. स्तब्ध—रुका हुआ ।

२७७. विधुरा—दुःखित ।

२८०. प्रस्तर—पत्थर ।

सियारामशरण गुप्त ।

२८५. प्राची—पूर्व दिशा में ।

प्रान्तर—भूमि ।

सुप्ति—निद्रा ।

२८६. झंखाड़—कण्टीली झाड़ियां ।

उत्तरीय—ऊपर का वस्त्र ।

गर्त्त—गढ़ा ।

२८७. क्षतच्छिन्न—घावों से छिन्न-भिन्न

झंझा—आंधी ।

पृष्ठ

२८८. मन्थरता—जड़ता।

वातूल—बावला, पागल।

२९१. म्रियमाण—मुर्दा सा।

२९२. रिक्तता—खालीपन।

उऋण—उधार से छूटना।

२९३. विकीर्ण—फैलाया।

२९४. विजन कक्ष—निर्जन स्थान।

अट्टहास—ऊंची हँसी।

२९५. शहनाई—तूती।

नैश—रात्रि का।

२९६. निस्तब्ध—चुपचाप।

२९७. कौशिक—रेशमी वस्त्र।

आर्द्रा—भीगी हुई, दुखी।

दुरन्त—परिणाम में बुरा।

२९८. उद्भ्रान्त—भ्रम खाया हुआ।

२९९. प्रभाकर—चाँद।

यातायात—आना जाना।

बालकृष्ण शर्मा नवीन

३०५. अधिकरण—स्थान, पात्र।

आस्रव—मदिरा।

प्रतिनिधि—स्थानापन्न, प्रतिरूप

गति-विधि—चाल-ढाल।

३०६. वैयक्तिक-खास मनुष्य सम्बन्धी

व्यष्टि-समष्टि—अकेला और समूह

मरणि—विधि प्रकार।

प्लावक—दौड़ने वाली।

मन्दाकिनी—गंगा।

गलबहियां—गले में बाजू।

ईति-भीति—दुःख और भय।

दानव—राक्षस।

संस्कृति—विशुद्धता, सभ्यता।

चरम—अन्तिम, पूर्ण।

भौतिक—पदार्थ सम्बन्धी।

माप दण्ड—तोल का दण्ड।

शाश्वत—सदा, सनातन।

३०७. नवल—नया।

सोपान—सीढ़ी।

सान्तता—समाप्ति से युक्त।

३०८. प्रणोदना—प्रेरणा।

प्रतिहिंसक—बदले में हिंसा करने वाले।

३१०. उपत्यका—पर्वत की घाटी।

पृष्ठ

पंकिल—पाप पूर्ण ।

३११. मोहक बन्ध—मोहने वाला बन्धन

उदयशंकर भट्ट ।

३२०. हुंकृति—हुंकार ।

झंझा—तेज वायु ।

३२१. वसुधाधर—पर्वत ।

शोणित—रक्त ।

जमघट—समूह ।

शुभ्र—कलङ्कहीन, सफेद ।

३२२. सुघड़—सुन्दर ।

उड़न खटोला—विमान ।

३२३. रोमन्थन—जुगाली करना, बार बार सोचना ।

विहार-स्थल—क्रीड़ा-भूमि ।

उपालंभ—उलाहना ।

क्लैब्य—क्लीवता, नपुंसकता ।

वञ्चकता—ठगी ।

कुत्सित—घृणित, बुरा ।

भगवतीचरण वर्मा

३२६. परिधि—सीमा, हद ।

उद्‌गार—वचन ।

अतीत—बीती हुई ।

३३०. कसक—पीड़ा ।

ठसक—चाह, इच्छा ।

३३२. अवहेला—उपेक्षा, निरादर ।

रामकुमार वर्मा

३३५. पर्यन्त—तक ।

३४०. रश्मि—किरण ।

सजीले—सुन्दर ।

ज्वार—ज्वार भाटा ।

खद्योत—तारे, चन्द्रमा, सूर्य ।

महादेवी वर्मा

३४३. नीड़—घोंसला ।

३४४ पारावार—समुद्र ।

शैशव—बचपन ।

३४७. अवसाद—दुःख ।

पृष्ठ

३४६. उपकरण—सामग्री।
वर्त्ति—बत्ती।
पुलिन—किनारा।

पृष्ठ

असीम—बेहद्।

३५०. उत्ताल—ऊंचा उठती हुई।
नैसर्गिक—स्वाभाविक, प्राकृतिक

जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'

३५३. स्फुलिंग—अंगारा।
निर्विषाद—दुःख से रहित।
वज्रनाद—बिजली का शोर।
दुर्द्धर्ष—दुर्जेय।
जिज्ञासा—जानने की इच्छा।
उद्दाम—ऊँची

३५४. विप्लव—वाद, संघर्ष।
सूत्रधार—निर्मायक, मूलस्थापक
ताण्डव—नृत्य, नाच।
मुग्ध वास—मादक गन्ध।
कलिका—डोडी।

३५५. निसार—जीवन स्वाहा करने वाले।

३५६. दृग—आंख।
कर्णधार—मल्लाह, नावक।
शलाका—सलाई।

३५७. चरम—अन्तिम।
भूलुण्ठित—पृथ्वी में लोट-पोट।

३५८. सज्जित—तैयार।
रणभेरी—युद्ध का नाद।
सेनानी—सेनानायक।

३५९. श्रमिक—श्रमजीवी, मजदूर।
हिलोर—लहर, इच्छा।

३६०. सन्धान—खोज, चिन्ह।
आह्वान—बुलावा।

३६१. खगोल—आकाश मण्डल।
रुद्र—भयानक।
निमिष—पल, क्षण।

हरिकृष्ण प्रेमी

३६७. मृग-छौना—मृग का बच्चा।

३६८. पूनों—पूर्णिमा तिथि।
ज्योत्स्नाजाल—प्रकाश समूह।

३७१. तरणी—नाव।

३७२. अविरत—सदा ही।
विरति—वैराग्य।

हरिवंशराय बच्चन

पृष्ठ

३७८. आवर्त—घेरा ।

३८०. उगाहा—वसूल किया ।

संजोना—इकट्ठा करना ।

कुंदन—सोना ।

पृष्ठ

३८१. भावुकता—साधुता ।

३८३. खण्डहर—टूटे फूटे मकानो के चिह्न ।

३८४. निःशेष—बाकी

समाप्त

Printed by Dharam Chand Bhargava, B. Sc. at the Amrit Electric Press, Railway Road, Lahore and published by Rai Bahadur Lala Ishwar Das, M. A., LL. B., Registrar, University of the Punjab, Katchery Road, Lahore.